चित्र-पट

लेखक

शम्भूदयाल जी सक्सेना

प्रकाशक

भारती पब्लिशर्स, लिमिटेड

पटना

प्रथम संस्करण २१००] [मूल्य १।।)

प्रकाशक
भारती पब्लिशर्स, लिमिटेड
पटना

मुद्रक
काव्यतीर्थ पण्डित विश्वम्भरनाथ वाजपेयी,
ओंकार प्रेस, प्रयाग

कहानियों के संबंध में

कहानी लेखक में जिन योग्यताओं का होना आवश्यक है, वे मुझमें एक भी नहीं। ससार का अनुभव, वस्तु-विन्यास की कुशलता, चरित्रों का विश्लेषण, आलाप का ढंग सभी में मैं अपने को अयोग्य पाता हूँ। भाषा और शैली में भी गर्व योग्य कोई विशेषता अपने में नहीं देखता; और तिसपर भी ये कहानियाँ मेरी आरम्भिक रचनाएँ हैं।

योग्यता न होने पर भी लेखक बनने का शौक बहुतों को हुआ करता है। मुझमें भी लगभग १९२३-२४ से इसी तरह की अनधिकार-आकांक्षा का उदय हुआ। मुझे लेखक-बनना है और अवश्य ही बनना है, बस मैं धीरे धीरे कुछ न कुछ लिखने लगा। वे उत्साह के दिन थे। ऐसे दिन, जब कि संसार को उलट-पुलट कर देने का आत्मविश्वास प्रत्येक युवक में जागृत रहता है।

धीरे-धीरे लेखक की कठिनाइयों से साक्षात् होने लगा। अब तक जीवन का स्वर्णयुग था, ऐसा समय जबकि दुनियाँ सुनहले स्वप्नों से भरी हुई प्रतीत होती है। जब स्वप्न टूटा, व्यावहारिक जगत में आना पड़ा तो देखा कि लेखक

उस उँचाई पर निवास नहीं करते जिसका ज़िक्र प्राय उनके ग्रंथों में पढ़ने को मिला करता है और इसके भी अतिरिक्त हिन्दी-लेखकों के दुर्भाग्य का तो ठिकाना ही नहीं। दर्जनों उपन्यासों की पांडुलिपियाँ उनकी अलमारी की शोभा बढ़ाया करती हैं। उनके प्रकाशन का अवसर लेखक के जीवन-काल में आ जाय तो उसका सौभाग्य अवश्य ईर्ष्या के योग्य समझना चाहिए।

अब इधर कुछ प्रकाशन-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो रहा है पर लेखकों की दशा अभी उससे कम भयावह नहीं है। तिस पर भी हम जब किसी लेखक का ग्रंथ उठाते हैं तो बहुधा जीवन का ऐसा मनोहर, सुसम्पन्न आकर्षक चित्र देखते हैं कि उससे लेखक के निजी जीवन तथा आसपास के वातारण से जरा भी परिचय नहीं पाते। यह ठीक है कि आख्यायिकाकार कलाकार है, और 'कलाकार का काम है सुन्दर-असुन्दर दोनों ही को मनोरम ढग से प्रस्तुत करना। किन्तु अन्दर धधक रही आग के आगे सुधांशु की शीतल किरणों का परदा डालकर वास्तविकता को दबा रखने से बहुधा बडे बड़े अनर्थ हो जाते हैं। लेखकों की दुर्दशा का कारण लेखकों की अपरिमित संख्या में पैदायश भी है, और इसके उत्तरदायी हैं वही लेखक जो वास्तविकता पर इस प्रकार परदा डाल रखते हैं। लेखकों की कठिनाइयाँ न जानकर अप्रौढ़

बुद्धिवाले युवक सहज ही उनके खींचे हुए चित्रों द्वारा प्रभावित होकर उधर झुक पड़ते हैं, और उनके दुखमय संसार को और भी दुखमय बना डालते हैं। अधिकांश कलाकार अपने कथानकों को ऐसे ससार से चुनते हैं जहां अभाव नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। उनकी अपनी यात्रा भी कभी सेकड क्लास से कम में आरम्भ नहीं होती। चाहे जीवन में कभी उस क्लास के वर्थपर बैठने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ हो। जिन्होंने ससार नहीं देखा है उनके लिए यह सचमुच एक बडा भारी प्रलोभन है।

ऐसे ही प्रलोभन में पड़कर मैं भी इधर आकृष्ट होगया था। उस समय जितने भी नवयुवक लेखकों से मेरा परिचय हुआ उन सब में लेखक बनने की अदम्य आकांक्षा देखी। उनका रहन-सहन यद्यपि मृत्युलोक के कष्टों से पूर्ण था, लेकिन उनके साहित्यिक आदर्श नन्दननिकुंज में बिहारकरनेवालों से कम नहीं थे। उस समय इस विरोध का पूरा रहस्य मुझे ज्ञात नहीं हो सका। बाद को सभी कुछ धीरे धीरे सामने आ गया।

लेखकों की इस अवस्था में भी प्रायः लोग सत्साहित्य की सृष्टि न होने पर उन्हे कोसा करते हैं, पर क्या यह सभव है कि जब तक उनका बाहर-भीतर एक-सा नहीं हो जाता तब तक उनकी लेखनी में विद्युत्-वेग का संचार हो। जो कुछ बल लेखकों में आया है वह भी समय की अनि-

वार्य आवश्यकता के कारण, नहीं तो अभी तक उनकी दशा में परिवर्तन उपस्थित करने का किसने प्रयत्न किया ?

साहित्य-मर्मज्ञ लेखकों से उनके रक्त से लिखी हुई चीजों की आशा करते हैं। सच बात तो यह है कि हमारे अधिकांश लेखक अपने रक्त से ही अपनी कृतियों के पन्ने लिखते हैं; पर उनका रक्त इतना निर्बल और ठंढा पड़ गया है कि उसकी उष्णता पाठकों को उत्तेजित नहीं कर पाती। नट तो कला करते-करते मर रहा है पर दर्शकों को रत्ती भर मज़ा नहीं आता। इसमें क्या एक ही का दोष है ?

खैर, इस खट्टे-मीठे अनुभवों की चर्चा के साथ मैं अपने निवेदन को समाप्त करते समय इतना और कहूँगा कि लेखकों की इस हीन दशा के लिए जहाँ दूसरे उत्तर दायी है वहां स्वय लेखक भी हैं। जीवन-चित्रों को ग्रंथ रूपी एलबम मे अंकित करते समय जीवन की सभी अव-स्थाओं के चित्रण का ध्यान रखना चाहिये। दुनियाँ में प्रेम और आनन्द के अतिरिक्त भी कुछ है और उसका ज्ञान भी लोगों के लिए उतनी ही उपयोगिता रखता है।

—लेखक

सूची

परिवर्तन

(१)

जिसकी आँखों के सामने आकांक्षा नाचती है, लालसा जिसके स्वप्न में सोने का साम्राज्य लेकर खड़ी होती है, जिसकी नसों में ख़ून तूफ़ान के वेग की तरह दौड़ता है, वह घरों का दीपक, परिवारों का प्राण, जातियों का जिगर और राष्ट्रों का भविष्य, युवक एक होनहार पौधा है। उसके दिल की उमङ्ग को किसने पहचाना है? जिसमे नैपोलियन का उत्साह भरा है, जिसमें प्रताप की प्रतिज्ञा सिर ऊँचा किये है, जिसके रोम-रोम में शक्ति और साहस का प्रवाह बहता है, उसकी गति का अवरोधक बनने की क्षमता हिमालय तक में नहीं है। इन्द्र के वज्र को मुट्ठी में कसकर चूर करदेने की अलौकिक उमङ्ग से

जिसका माथा चमकता है, वसुन्धरा को पैर की धमक से रसातल भेज देने के अटल विश्वास से जिसकी आँखें तनी हुई हैं, उसके लिए विधाता के इस छोटे से जगत की कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। जिसकी भृकुटि की रेखा में प्रलय, जिसकी अस्फुट मुसक्यान में आकाश के तारों की चमक, मौजूद रहती है, वह अपनी किस इच्छा की पूर्ति अनायास ही नहीं कर सकता? वह चाहे तो बात की बात में दुनियाँ को हिला सकता है, जातियों का तहसनहस कर सकता है। बड़े से बड़ा साम्राज्य अपनी पुतलियों के इशारे पर चला सकता है। निराशा ने बाईस साल की उमर तक कभी जिसका मुँह नहीं देख पाया, हरीश इसी तरह का युवक था।

जब से होश सँभालकर जवानी के सिंहद्वार में उसने प्रवेश किया, उसी दिन से उसकी आकांक्षाएँ बढ़कर और की और हो गईं। वह जब कालेज की दीवारों में घिरकर बैठता, तब उच्चाभिलाषा उसकी कल्पना को वहाँ उड़ा ले जाती, जहाँ मनुष्य यश-किरणों से खिल उठता है, जहाँ संसार का उत्तरदायित्व अपने दोनों कंधों पर सँभालकर वह गर्व से सिर ऊँचा करके बैठता है। रात्रि के अपराह्न काल में जब उसकी आँखें खुल जाती हैं, तब वह सिंह के बच्चे की तरह उछलकर बिस्तर से दूर जा खड़ा होता है, जैसे समर को जाते समय राजपूत बालक तलवार

झपटकर ले लिया करते थे, उसी तरह वह अपनी मोटी किताब लेकर कुरसी पर जा बैठता। उस समय सर्दी, गर्मी, बरसात, आलस-प्रमाद कुछ भी उसके पास न फटकते। हरीश की तरह ज़िन्दादिल लड़का दूसरा नजर न आता था। उसने शुरू से आख़िर तक सभी इम्तिहान विशेष योग्यता के साथ पास किये थे। घर-बाहर सब जगह उसकी योग्यता की तारीफ़ थी।

बी० ए० के इम्तिहान की तैयारी करना है। बड़े दिन की छुट्टियों में हरीश घर नहीं जायगा, यही निश्चय करके वह चुपचाप अपने कार्य में लगा हुआ था। रात को यकायक इरादा बदल दिया। सवेरा होते ही गाड़ी पर सवार हो घर चल दिया। पहुँचते ही माँ ने सिर पर हाथ फेरकर कहा—अच्छा हुआ तू आगया बेटा! मैं ख़ुद ही बुला रही थी। बता तो ऐसी पढने की क्या फ़िक्र पड़ी है जो छुट्टी के दिनों में भी घर नहीं आना चाहता था?

हरीश ने हँसकर कहा—अभी इसी गाड़ी से लौट जाना पड़ेगा। लेकिन मां, मुझे पढकर सिर खपाने का शौक नहीं है। अगर तुम्हारे पास इतना ख़ज़ाना हो कि मेरे बिना पढ़े ही सब लोग आराम से रह सकें, तो मैं लौट कर ही न जाऊँ?

मां—नहीं बेटा! तू ख़ूब पढ़। विद्वानों में तेरी गिनती

हो। रुपया आदमी के हाथों का मैल है बेटा। मैं उसे नहीं चाहती; पर कहे देती हूँ अब छुट्टियों भर मैं तुझे किसी तरह जाने न दूंगी। आज ही लौट जाने की बात मेरे सामने मुँह से मत निकाल।

हरीश—ना, किसी तरह नहीं मां—मैं इस बार किसी तरह नहीं रुक सकता। मुझे आज लौट जाना ज़रूरी है।

मां—लेकिन उससे भी ज़रूरी मुझे तेरा रोक रखना है।

हरीश—उससे भी ज़रूरी ?

मा—हा—मैंने वचन दे रक्खा है। इन्हीं छुट्टियों में तेरा फलदान होगा। मुझे घर में बहू लाना है। मैं अब अकेली नहीं रह सकती।

इस निश्चित उत्तर में कितनी दृढ़ता थी, यह हरीश को समझते देर न लगी। प्रतिवाद की गुञ्जाइश न देख कर वह चुपचाप बैठ रहा।

(२)

अकांक्षा का पौधा अभी तक अकेला और निरुद्देश्य बढ़ता जा रहा था, जिसमें अभी तक केवल अकेलेपन की सादगी थी, उसकी कल्पना का क्षेत्र विस्तृत होने लगा। किसी अज्ञात अपरिचित स्वप्न-लोक की सौंदर्य-प्रतिमा उसमें अपने अधिकार और शासन का अस्तित्व खोजने लगी। एक की जगह दो प्राणियों की सम्मिलित अभिलाषा

हरीश के हृदय मे जागृत होकर, उसके प्रत्येक कार्य में फैल चली।

अब जब वह किताबें लेकर बैठता है, तब इन्दु न जाने कहा से आकर उसके मन में नई-नई आशाएँ, नई-नई स्कीमें भर देती है। उसके मन में इन्दु बसन्त होकर आई। ससार, सारी प्रकृति, घर-बाहर, सब कुछ, सौंदर्यमय मंगलमय आशा और अभिलाषा के लोक में विचरण करनेवाला होगया। बी० ए० पास होने का समाचार आने से पहले हरीश को चिन्ता पड रही थी। वह चाहता था विवाह मे पहले ही वह अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित कर ले। इन्दु जिस दिन आवे उस दिन वह अपने को उसका अनुरूप और योग्य जीवन-सहचर साबित कर सके। पुरुष के अन्दर जो विशेष शक्ति होती है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव उसे कराने के लिये नारी वास्तव में एक सजीव दर्पण है। उसकी मधुर कल्पना उसके अन्दर सोयी हुई अनेक भावनाओं को जागृत कर देती हैं, और ये सारी शक्तियाँ इस समय हरीश में प्रबल वेग से उत्पन्न हो चुकीं थी। इन्दु के समक्ष अपनी योग्यता का प्रमाण देना ही जैसे उसके जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता थी। उसके भविष्य-जीवन का दारोमदार एक तरह से इन्दु के दिये हुए सार्टीफिकट पर ही अवलंबित था।

परीक्षा में पास होने के लिये तो वह सदा ही मेहनत करता था, पर इस साल इन्दु की नजरों में पास होना था, इसलिये हरीश ने पढ़ाई में रात-दिन एक कर दिये। घर से आते समय जब वह अन्तिम वार इन्दु से भेंट करने गया था, तो उसने कहा था—सुना है आप बहुत पढते हैं?—उसके उसी कथन को सत्य करने के लिये, तथा अपने को उस योग्य बनाने के लिये हरीश प्राण-पण से लगा हुआ था। परीक्षा आरम्भ होने तक वह अपनी पाठ्य-पुस्तकों के एक दर्जन रिवीज़न कर चुका था। इस पढ़ाई का फल यह हुआ कि वह बीमार पड़ गया। डाक्टर ने सलाह दी कि इम्तिहान में शरीक मत हो। बुखार ने शरीर और मस्तिष्क को शिथिलकर उसे मानों और भी ज़ोर से रोक रखने का आग्रह किया। घर से पत्र आ गया—तुरन्त चले आओ। देखा जायगा, इम्तिहान देने के लिये अभी सारी जिन्दगी पड़ी है, शरीर स्वस्थ रहेगा तो अनेक इम्तिहान पास किये जा सकेंगे। इन आग्रह और सम्मतियों के बीच, शरीर की अस्वस्थता के सामञ्जस्य ने, क्षण भर के लिये उसको सकल्प-विकल्प की अवस्था में डाल दिया, लेकिन हृदय के अन्दर इन्दु के शब्दों की प्रतिध्वनि गूँज रही थी। वह इम्तहान की ख़ातिर पास करने की कभी कोशिश नहीं करता, लेकिन इन्दु की ख़ातिर उसे पास करना ज़रूरी था। सिर्फ शरीर

की अक्षमता के कारण यों ही जाने देना किसी तरह वह बरदाश्त नहीं कर सकता था। उसने शरीर और जीवन की बिल्कुल परवाह न करके किसी न किसी तरह परीक्षा में शामिल होना ही तय किया। शायद इन्दु की चिट्ठी आ जाती, और वह इम्तिहान न देने का अनुरोध करती, तो भी हरीश अब अपने निश्चय को नहीं बदलता। एक अंतिम पर्चे को छोड़कर उसने बाकी सभी पर्चे बुखार और कमजोरी की हालत में आराम-कुर्सी पर लेट-लेटकर किये।

इम्तिहान के साथ ही बुखार भी चला गया। मानों सारी यन्त्रणा एक बाधा थी। इस बाधा के द्वारा ही मानों उसकी कठिन परीक्षा का विधान रचा गया था। इम्तिहान न सही, इस परीक्षा को तो हरीश से परास्त ही होना पडा था और इम्तिहान के विषय में अभी कहा ही क्या जा सकता था, उसका उत्तर तो भविष्य के गर्भ में था। इस दैवीकोप का मुँह मोड़कर हरीश ख़ुशी-ख़ुशी घर के लिये रवाना हो चला। इस बार दूसरी गाड़ी से लौटने का विचार उसके मन में नहीं था। रास्ते में वह मन ही मन सोच रहा था—क्या इन्दु यह बात जानती है, कि उसने कितना कष्ट सहकर इम्तिहान दिया है? यदि फेल भी हो जाय, तो क्या वह उसे पास हुआ ही समझ लेगी?

(३)

इन्दु घर पर नहीं है। पिता के साथ लाहौर चली गई है। उसके पिता वहीं पंजाबवैंक में नौकर हैं। अब वह वहीं रहेगी। विवाह से पहले शायद एक बार भी नहीं आयेगी। इन्दु चुपचाप चल गई। हरीश के लिये एक चिट्ठी भी नहीं छोड गई। इन्दु सचमुच बड़ी निठुर है! हरीश मन ही मन बहुत निराश और संक्षुब्ध हो उठा।

हरीश के जीवन में अनेक वार ऋतुओं का परिवर्तन हुआ था; लेकिन गर्मी के दिन पहले कभी इतने लम्बे होकर नहीं आये थे। सूनी दोपहरी, श्रान्त निर्जीव संध्यायें और श्रीहीन प्रभात प्रथम वार उसने पहचाने थे। छुट्टियाँ अनन्त दूरी तक फैले हुए रेगिस्तान की तरह भयानक होकर चित्त को दुखी करती थीं। घर पर हरीश से रहा न गया। वह माँ को लेकर हरिद्वार की सैर करने चला गया।

जिस अवस्था में हरीश ने इम्तिहान दिया था, उससे अगर घर पर उसने अपने फेल हो जाने की भविष्यवाणी कर दी थी, तो कोई वेजा नहीं किया था। उसे खुद भी पास होने की पूर्ण आशा नहीं थी; जिन लोगों ने उस समय उसे देखा था वे भी उसके फेल होने का निश्चय कर बैठे थे। यही सब देखने के लिये उसके विवाह के संबंध

में अभी तक और कुछ नहीं किया गया था, यद्यपि इन्दु के पिता की ओर से कई तकाज़े और तजवीज़ें आ चुकीं थीं, और वे सब के सब मेज़ की दराजों मे अवधि के दिन गिन रहे थे। लेकिन जब नतीजा आया तो सब लोग दंग रह गये। हरीश ने इस बार भी प्रथम श्रेणी में स्थान पाया था। तमाम जान-पहचान के लोगों में हरीश की वाहवाही होने लगी।

जब हरीश बाहर से लौटकर आया तो पिता ने आन्तरिक प्यार से उसकी ओर देखकर हरीश की माँ से कहा—अब मुझे कोई इनकार नहीं है। जो पहला मुहूर्त्त पड़े, उसीको ठीक कर देंगे।

ख़ुशी की अधिकता के कारण हरीश की माँ की आँखों से आँसू गिर पड़े। उन्हें छिपाकर उन्होंने अञ्चल से पोंछ डाला और कहा—"मैं तो पहले ही से कह रही थी। तुम्हींको संदेह हो रहा था। कहते थे, कहीं पास न हुआ? हरीश को मैं जितना जानती हूँ उतना तुम नहीं जानते"—मेरी इस बात का बार बार तुम्हें प्रमाण मिल जाता है, फिर भी अपनी अक़्ल के सामने मेरी कभी नहीं सुनते।

हरीश के पिता ने हँसकर कहा—इसमे क्या शक है। आज से मैं अपनी अक़्ल के हाथ-पैर तोड़कर तुम्हारे

सामने डाल देता हूँ, जैसे चाहो उससे काम लिया करो।

हरीश कपड़े पहनकर टहलने जा रहा था।

माँ-बाप दोनों उसके सुडौल बलिष्ठ शरीर को तृप्ति संतोष और गर्व की दृष्टि से चुपचाप बैठे हुए देखते रहे।

(४)

हरीश डिप्टी-कलेक्टरी के इम्तहान के लिये फार्म भर चुका था। उसके विवाह का मुहूर्त इम्तहान के दिनों में ही पड़ता था। इसलिये विवाह को रोक देना पड़ा, तथा अगले अप्रैल का महीना इस शुभ कार्य के लिये निश्चित रूप से तय समझ लिया गया।

विवाह की सभी तैयारियाँ धीरे धीरे पूरी हो रही थीं। उसी समय उत्साह और उमग से देश की नसें फडक उठीं। स्कूल-कालेजों में स्वाधीन विचारों की एक बाढ़ सी आ गई। जिसने कभी कृशता के कारण सिर नहीं उठाया था, हाँ, वही हिन्दू जाति जीवन-रस के उद्दाम वेग से सजग हो उठी। हज़ारों वर्ष की खोई हुई स्वाधीनता का सितारा अचानक उठकर उसकी नज़र के सामने आ गया। लोगों ने एक महान आत्मा के विशुद्ध विचारों में अपनी भावनाओं को ढाला। पराधीनता की कलुषित और अपमान जनक बेड़ियों को तोड फेंकने के लिये बचा-बच्चा छटपटा उठा। ख़ून से नहीं, अत्याचार से नहीं,

प्रेम और अहिंसा के अमोघ अस्त्र-द्वारा, मानव-जाति के कल्याण के लिये, ससार में विश्वप्रेम, समानता और विशुद्ध भ्रातृ-भाव के प्रचार के लिये, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक मधुर स्वातन्त्र्य-रागिनी गूँज उठी।

इसका यह मतलब नहीं है, कि इसी देश मे रहनेवाले बहुत से लोग इससे उदासीन और अनजान नहीं थे। यदि ऐसा होता तो एक साल के अन्दर एक नहीं अनेक बार ब्रिटेन से सौगुनी ताक़तवर जातियों को झुकना पडता। लेकिन उस समय देश में मतान्तरों की कमी नहीं थी, अज्ञान की कमी नहीं थी और उदासीनता, अवहेलना की कमी नहीं थी। खुद हरीश ही सरकारी नौकरी के स्वप्न में जी-जान एक किये दे रहा था। शिमला, कालका, नैनीताल, इलाहाबाद और लखनऊ दौड-दौडकर सैकडों तरहकी कोशिशें की थीं, लेकिन उसे कभी देश की पुकार नहीं सुन पडी थी। अपनी उमग के सामने सारे ससार की बात सुनने की उसे फ़ुर्सत नहीं थी।

देश की तमाम समस्याओं से दूर-दूर रहकर उसने आखिर यह इम्तिहान देही डाला। विदेशी कपडों की होली में उसके सहपाठी ब्रजेश के घर के ट्रङ्क के ट्रङ्क स्वाहा हो गये, पर उनका कुछ भी असर हरीश के आचरण पर नहीं पडा। विद्रोही लडकों के माँ-बापों के पास हरीश का उदाहरण उपस्थित किया जाता था। लोग कहते थे—

लड़का हो तो ऐसा हो। चुपचाप अपने काम से काम रखना, माँ बाप की आज्ञानुसार चलना, वास्तव में पढ़ लिख कर सभ्यता अगर किसी लडके में आई है, तो वह हरीश में। ईश्वर सभी को ऐसा सुपुत्र दे।

इस तारीफ की चर्चा इतनी ज़ोरों पर थी, कि स्वय हरीश भी उसे बगैर सुने न रह सका। जिन लोगों के मुँह से ईर्ष्या-द्वेष के सिवा उसने दूसरा शब्द नहीं सुना था, वे हा जब मुक्तकंठ से प्रशंसा के पुल बाँधने लगे, तब हरीश के हृदय में भी स्वाभाविक गर्व की गुदगुदी मचने लगी। वह अपने आचरण को सचमुच बड़ा उन्नत समझने लगा। अपने जीवन की रफ़ार बदल देनेवाले मित्रों से बड़े तपाक के साथ वह बहस किया करता था। राष्ट्रीय-भावना के सिद्धान्त को वह निष्ठुरता का द्योतक समझता था, तथा उसके अन्दर व्यक्ति की नगण्यता को समर्थन करने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता था। ऐसी ऊटपटाग बहस से और नहीं तो इतना अवश्य हो गया कि हरीश खुद भी परिस्थिति का ज्ञान रखने लगा। उसे आन्दोलन तथा उसके कार्यकर्ताओं की कमजोरियों को जानने की ख़ुद ही बड़ी फ़िक्र रहती थी।

(५)

जिस दिन हरीश इस निश्चय पर पहुँचा कि देश की दशा संकटों से जर्जर हो रही है। प्रत्येक भारतवासी का,

चाहे वह किसी भी जाति या सम्प्रदाय का क्यों न हो, कर्तव्य है कि वह अपनी हस्ती को त्याग की पवित्र वेदी पर उत्सर्ग करके भारत ही नहीं, वृहत्तरभारत के हित की रक्षा करे। स्वार्थ-चिंतन तथा मतान्तरों के विकास को समस्त मानवजाति के कल्याण के लिये इस समय बालायताक रख देना होगा। उसी दिन वास्तव में उसने आन्दोलन की आवश्यकता का अनुभव किया। इतिहास का सिंहावलोकन करके, राजनीति की गतिविधि समझकर, अपनी स्थिति, शक्ति और आदर्श का भलीभाँति विचारकर प्रचलित आन्दोलन की महत्ता स्वीकार की, किन्तु साथ ही व्यक्तियों की आलोचना पर उसे एकबार फिर हतज्ञान हो जाना पड़ा। आन्दोलन की बागडोर लेकर जो लोग उत्साह की आँधी ला रहे थे, कुछ अपवादों को छोड़कर उनमें अधिकाश के उद्देश्य इतने तुच्छ जँचे कि हरीश मन ही मन संक्षुब्ध हो रहा। उनमें स्वार्थ-त्याग के आभास का पता लगाने का यत्न करते ही वह लज्जा और घृणा के विचार से कुण्ठित हो गया।

खद्दर के स्वच्छ आवरण के भीतर विषैली कलुषित भावनाओं का एकीकरण, देश के दुर्भाग्य को ऊँचे हाथ करके बुलाता हुआ समझ पड़ा। त्याग की पवित्रता के अन्दर स्वार्थ-साधन का अभिनय प्रतीत हुआ। स्वाधीनता के नाम पर स्वेच्छाचार और उच्छृंखलता का साम्राज्य

हाथपैर बांधकर राष्ट्र को उस कुएँ में गिराने की तय्यारी सी कर रहा था, जो रसातल की गहराई नापता हो। यह सब सोचकर उसे जितना दु ख हुआ, जैसी निराशा हुई, वह बयान नहीं की जा सकती। लोगों की स्वार्थ-परता पर मन ही मन वह खीझ उठा। मारे क्रोध के उसकी आँखो से आग की चिनगारियाँ निकलने लगी।

इन दिनों उसकी इस सम्बन्ध में सारी बहस ब्रजेश से होती थी। रोज़ ही घंटे दो घंटे बैठकर वे दोनों अपने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि किया करते थे। हरीश के मनोदेश में आन्दोलन की सार्थकता प्रमाणित करने में ब्रजेश ने धीरे-धीरे काफ़ी सफलता पा ली थी। आज अपनी बुद्धि से बहुत बड़ा आविष्कार करके, ब्रजेश की पराजय का रूप स्थिर करता हुआ, वह उसी दशा में उसके घर जा पहुँचा। उसी आवेश में अपने सभी प्रश्नों को उसके सामने एक ही साँस में कह डाला, और पास बैठकर पूछा—बतलाओ, इन रंगे-सियारों के दल को लेकर विजय पा लेने पर भी तुम कौन-सा आदर्श निर्माण कर सकोगे? क्या पवित्र स्वाधीनता की रक्षा इन्हीं स्वार्थी लोगों द्वारा सम्भव है? क्या सम्पूर्ण विश्व की कल्याण-कामना की, इसी संकुचित मनोवृत्ति के सहारे हम आशा कर सकते हैं?

ब्रजेश—तुम्हारी इन बातों का उत्तर बड़ी आसानी से दिया जा सकता है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक

बार इशारा मात्र कर देने से फिर तुम स्वय ही समझ जाओगे; लेकिन भाई ! इस समय मुझे क़तई फ़ुर्सत नहीं है। आज एक सार्वजनिक-सभा का आयोजन करना है। बाहर से भी आज बड़े-बड़े नेता आने वाले हैं।

हरीश—आनेवाले क्या, आगये हैं, फिर इससे मुझे क्या ? मैं तो अपनी बातों का समाधान चाहता हूँ। सभा करने का भी तुम्हारा क्या यही उद्देश्य नहीं रहता है कि तुम दूसरी ओर जाते हुए लोगों का शका-समाधान करो। पब्लिक में वही बात तो करने जा रहे हो, पर मेरे लिए समय नहीं है। यही तो मैं कहता हूँ कि सभी के अन्दर कुछ न कुछ स्वार्थ घुसा हुआ है। यहाँ अकेले में व्याख्यान देने से कुछ भी यश न होगा, यही न ?

व्रजेश—तुम चाहो तो यही ख्याल कर लो, पर वास्तव में बात यह नहीं है। हम लोग ज़्यादा से ज़्यादा तादाद में लोगों को एक ही साथ अपना सँदेश सुनाना चाहते हैं। उसमें हमें यह आशा रहती है कि हज़ारों में अगर एक दो पर भी असर पूरी तरह पड गया, तो हमारा परिश्रम सफल हो गया। आज की सभा में शंकाओं के समाधान का प्रोग्राम भी रक्खा गया है। अच्छा हो, आज तुम भी वहीं चलो। हम लोग सभी तरह के प्रश्नों का स्वागत करते हैं। यों ही तर्कहीन, युक्तिरहित निरुद्देश्य मार्ग की

और सर्वसाधारण को ले जाना हमारा काम नहीं है।
—बस, भाई—मैं यह चला।

ब्रजेश चला गया। हरीश अपनी सारी युक्तियों को एक बार फिर सान चढ़ाकर फिर अपने घर लौट गया। उस दिन सभा की प्रतीक्षा का उसका समय बड़ी मुश्किल से बीता।

(६)

शायद उस दिन यह ब्रजेश ने भी नहीं सोचा था कि तीर इस ढंग से निशाने पर लगेगा। कम से कम इसकी तो उसे स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी, कि उसके कार्य का उत्तरदायित्व किसी तरह हरीश अपने कंधों पर ले लेगा। यदि उस दिन पुलिस अचानक आक्रमण करके सभा भंग न कर देती, अकारण ही ब्रजेश की गिरफ़ारी न होती तो शायद बगैर तर्क में पूरी तरह परास्त हुए हरीश किसी तरह न समझता। क्षण भर में जो बहुत सी बातें एक साथ सामने आगईं, उनसे हरीश आप ही आप सब बातों का उत्तर पा गया। उसे ज्ञात हो गया कि देशोद्धार में लगे हुए लोगों में दोष हैं, पर उनकी मात्रा अपेक्षाकृत बहुत ही क्षुद्र है, और वह भी उनके पवित्र उद्योग के संसर्ग से बहुत कुछ नष्ट होगई है। उनमें बुरे से बुरा आदमी भी खद्दर की पोशाक का ख्याल करके क्षण भर के लिये अकार्य में हाथ डालने में आगा-पीछा करता

है। इसके अलावा अगर उनमें सदुद्देश्य के विरुद्ध बुराई और स्वार्थ की अधिकता हो, तो भी आन्दोलन को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह तो पवित्रता की स्वर्ण-भूमि में उठा हुआ पुण्य-पावन मन्दिर है। यदि 'वहाँ के लोग अयोग्य हैं, तो इस अयोग्यता को समझने वाले हर-एक प्राणी का परम कर्तव्य है कि वह उन्हें योग्य बनाने का पूर्ण यत्न करे। जिसने ऐसा न किया, उसीके सिर आन्दोलन की महत् पवित्रता को कलुषित करने का सारा पाप होगा।

अन्त करण की इस आवाज़ के सामने हरीश की सारी दृढ़ता लुप्त हो गई। समय के सच्चे आह्वान को सुनकर वह सारी स्थिति समझ गया। लेकिन उसके हाथ पैरों में जो बहुत बड़ी बड़ी बेड़ियाँ पड़ी थीं, उनका सारा बोझ उसे अब समझ पड़ा। अभी तक जिसके साक्षात से वह मधुर गुदगुदी अनुभव करता था। जिसके स्वरूप की कल्पना में उसके मन का आकाश सदा इन्द्रधनुष की छाया से रञ्जित रहता था, वही—हाँ वही रेशम की सुनहली डोर, उसे क़ैद कर रखने का समान बन गई। फूलों की जिन लड़ियों को गले में पहन लेने के लिये वह उत्सुकता से फूला नहीं समाता था, आज वे ही पत्थर की शिलाओं की तरह उसे दबाती हुई समझ पड़ी। वह सोचता था, कि मधुर कल्पनाओं के ये थोड़े से महीने बगैर दर्शन

दिये ही क्यों न बीत गये। विकट असमजस था। क्या करे, क्या न करे, कुछ उसकी समझ में ही न आता था।

इन्दु की टूटती हुई आशाओं का मर्म-स्पर्शी दृश्य उसकी आँखों के सामने खिचकर अन्त करण को व्यथित कर रहा था। बड़ी मुश्किल से जिस इमारत को वह अपने प्राणों के गारे से खड़ा कर सका था, उसे एकाएक गिरा देने की कठोर कल्पना से वह मन ही मन सिहर उठता था। वह किसी तरह अपनी इस दुर्वलता को परास्त न कर सका। इन्दु के अज्ञात रूप से अशिथिल और दृढ़ हुए स्नेह-बन्धन को किसी तरह तोड़ फेंकने की शक्ति उसके उन्नत बलिष्ठ शरीर में नहीं थी। रात्रि के शब्दहीन अन्धकार मे वह इस दुर्बोध समस्या को किसी तरह हल न कर पाया। आखिर उसे सब बातें समझते हुए भी देश-भक्ति की ओर से मुँह फेर लेना पड़ा।

उसने अख़बार पढ़ना छोड़ दिया। घर से बाहर बहुत कम जाने लगा। अपने लिये नहीं पर इन्दु के लिये उसे अपने जीवन के मार्ग को उसी ओर मोड़ना पड़ा, जिधर सुख और आनन्द हो। जाति और राष्ट्र के भाव को भुला देना होगा, क्योंकि इन्दु एक गरीब देशभक्त की स्त्री होकर यौवन के प्रभात काल में ही वानप्रस्थ की सी तपस्या नहीं करेगी, वह अधिकार से पूर्ण, विद्या से सम्पन्न और

और वैभव से भूषित एक बड़े ओहदेदार हरीशबाबू की सहधर्मिणी होगी। यही उसका अपनी ओर से अन्तिम निर्णय हो चुका था। तथापि उसका हृदय ब्रजेश के मुक़दमे की ओर भी लगा था। उसे विश्वास था कि कुछ होने का नहीं है।

(७)

ब्रजेश अदालत के सामने अभियुक्त होकर लाया गया। उस दिन कचहरी दर्शकों से भरी हुई थी। जब अभियुक्त के वेश में ब्रजेश आया, तो लोगों में उत्साह की बाढ़ सी छागई। देश के जयजयकार से सारा आकाश गूँज उठा।

उस अपार भीड़ में एक ओर हरीश भी मौजूद था। आज वह बड़े उत्साह से निकलकर आया था। उसे कामिल यक़ीन था कि ब्रजेश बेदाग छूट जायगा। उसने यह भी सोच लिया था कि उसके छूट जाने पर वह उसे अपनी सारी विवशता समझा देगा। वह उससे कहेगा— यार! तुम बड़े भाग्यशाली हो, तुम्हें देशसेवा के लिये सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं। मैं तो ऐसा बन्धन में पड़ गया हूँ, ऐसा विवश हो गया हूँ, कि समझ-बूझकर भी अपने कर्तव्य से वञ्चित हो रहा हूँ।

उधर ब्रजेश को चार साल की कड़ी सजा का हुक्म हो गया। हरीश के पैरों के नीचे पृथ्वी खिसकती हुई मालूम पड़ी। इसकी तो उसने किसी तरह कल्पना भी नहीं

की थी। क्षण भर उसके मन में आया कि ब्रजेश के परिवार की क्या दशा होगी ? पर इसका क्या उत्तर था ? वह बड़ी तेजी से आगे की भीड को ठेलकर अपने मित्र का दुखी और रोता हुआ चेहरा एक बार देखने के लिये आगे बढ गया। हरीश हैरान हो गया जब उसने अपनी सभावना के विल्कुल प्रतिकूल ब्रजेश को हँसते हुए देखा। उसका चेहरा उस समय भी सदा की भाँति गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ था ? माँ, बहिनें विजय के गीत गाकर उसे विदा कर रही थीं। स्वाधीनता की वेदी पर उत्सर्ग की महिमा का मूल्य कितना अधिक है। उसमें कितना आनन्द, कितना गौरव और कितना महत्व है, यह पलक मारते ही हरीश के हृदय में अङ्कित हो गया। उसके सामने और सभीं कर्तव्य कितने तुच्छ और नगण्य हैं ?—वह झटपट जाकर ब्रजेश के गले से लिपटकर बोला—भाई ! तब नहीं तो अब, मैं सब कुछ समझ गया हूँ। मेरा सारा मोह दूर हो गया है। आज से मैं देश-सेवा के लिएकांग्रेस का समर्थक होता हूँ। मेरे जीवन का व्रत आज से भारत की स्वाधीनता होगी—अब कोई भी आकर्षण मुझे अपने निश्चित मार्ग से विचलित न कर सकेगा—तुम्हारा सारा कार्य-भार आज से मैं अपने सिर लेता हूँ।

ब्रजेश—भाई हरीश ! तुम्हारे सिवा सच्ची लगन से

कार्य करने वाला कोई नजर में था भी नहीं। मेरे मन में जो द्विविधा थी, उसे तुमने दूर कर दिया। अब मुझे जीवन पर्य्यन्त कारावास दुखकर नहीं होगा। मुझे बड़ा हर्ष है कि मैं अपने से योग्य हाथों मे अपना काम देकर निश्चिन्त हुआ जा रहा हूँ।

एक बार फिर ब्रजेश से भेंट कर हरीश ख़ुशी से उछलता हुआ लौट आया। ब्याह के लिये बने हुए अपने रेशमी कपडों की घर के आँगन में एक बडी सी होली जलायी। माँ-बाप उसके इस आकस्मिक परिवर्तन से बेहद दुखी हुए लेकिन कोई उपाय नहीं था। उसकी धुनके सामने उन्हें सदा चुप रहना पड़ता था। गनीमत यही थी कि उन्होंने अपने लडके को विद्रोही नहीं कहा।

दूसरे दिन हरीश वह हरीश न रह गया। घर के बाहर तो विद्रोही पुत्रों में उसका नाम लिख ही गया, पर इससे वह ज़रा भी नहीं डरा। खद्दर की वर्दी पहनकर वह देश के कार्य के लिये चल पडा। उसी समय डिप्टी कलेक्टरी का नियुक्तिपत्र उसे पोस्टमैन ने लाकर दिया। हरीश ने उसे चीरकर फेंक दिया और मजिस्ट्रेट को लिख भेजा—"खेद है अब मैं कुछ नहीं कर सकता। मैंने स्वदेश की डिप्टी कलक्टरी स्वीकार कर ली है।"

उस दिन सचमुच हरीश ने सब त्याग दिया; लेकिन बदले में जो पाया, उसके बतलाने को कोपमें शब्द ही कहाँ हैं?

विस्मृत

[१]

मेरे उसके वचपन एक ही डाली के दो फूल थे। एक ही साथ खिले थे। एक ही जगह फूले थे। साथ ही साथ दोनों पर रग चढ़ा था, साथ ही साथ महक पैदा हुई थी। चुपचाप किसी एक ही वसन्त ने आकर उनके कानों में वहार की वांसुरी वजाई थी।

एक ही बाजे पर उँगली चलाकर दोनों ने सगीत सीखा था। एक ही पुस्तक के पन्ने उलटकर दोनों ने साहित्य में पारदर्शिता प्राप्त की थी। हम दोनों के जीवन की एक ही व्याख्या थी और एक ही परिभाषा। काल का हम दोनों ने एक ही-सा स्वरूप देखा था। ऐसी कोई वात न थी, जिसमें हम दोनों का मतान्तर हो।

हम दोनों के दो शरीरों में एक प्राण था। हम ऐसे दोस्त थे, जिनकी कल्पना स्वय एक आदर्श का निर्माण हो सकती है।

[२]

पर शोक! हमारा वह शाहीमहल बालू की दीवार की तरह ढह गया, स्वप्न के स्वर्ण-साम्राज्य की तरह उजड गया। हमारे स्नेह का सितारा उगा, टूटा और बुझ गया। हम दोनों में विच्छेद हो गया। दिल खिंच गये। व्यवहार में फर्क पड गया।

जहा प्रेम की गगा वहती थी, वहा ईर्षा की दीवार उठ गई। वह गलियों का साथ साथ खेलना भूल गया। पास बैठ कर किस तरह सारी रात हम दोनों खुशी से जागते रह जाते थे? वे दिन, वे घडिया अब मुर्दों के साथ दफ़न हो चुकी हैं। वे क्या फिर किसी तरह वापस लाई जा सकती हैं?

[३]

हाय! अब वह दिन आ गया, जब दुश्मनों के साथ भी हम उसे याद नहीं करते हैं।

किसी मा ने मुझे जन्म दिया था, दूध पिलाया था—पर वह मर गई। उस बचपन में मर गई, जब मैं अबोध था! उस मां की मुझे ज़रा भी याद नहीं है। किसी तरह

की कोई धुधली स्मृति भी उसकी स्नेह-मूर्ति का मुझे कोई आभास नहीं देती। पर दिन में कम-से-कम तीन बार उसका सम्वोधन इस जुबान से निकलता है, पर मेरा वह दोस्त!—हा, शोक! उसका तो कहीं ज़िक्र ही नहीं। जिससे, न जाने कितनी बार, कहा होगा—मित्र! हम-तुम एक ही दफ़्तर के बाबू होंगे, एक ही बगले मे रहेंगे, एक ही मोटर में चढ़ेंगे, यदि एक ही लड़की से व्याह करना सम्भव न हुआ, तो दोनो कुवारे रहेंगे—पर रहेंगे एक जगह और एक हो कर।

[४]

एक, दो,—न जाने कितने बरस गुजर गये।

कितनी बार सावन के झूले पड़े और उतर गये, कितनी बार वसन्त की बहार आई और चली गई, पर मैं अपने उस अपराधी को क्षमा न कर सका, जिसका शायद कसूर कुछ भी न रहा हो। कसूर न रहने पर भी वह अपराधी हो सकता, क्योंकि मैं उसे अत्यन्त चाहता था।

वह ईर्षा और गुस्से के परदे में ढक गया। मैं उसे भूल गया, या मुझे उसे भूल जाना पड़ा!

(५)

सितम्बर की १६ तारीख थी। ठीक पांच बरस बाद उसने मुझे बुलाया था।

मैं गया था, पर हाय! किसे देखने? मेरा प्यारा दोस्त

अब बिस्तर में मिल गया था, मलमल का कुरता उसके शरीर पर एक बोझा-सा पड़ा था। उसे बैठने की ताकत न थी। उसके कंठ से बोल न फूटता था। शायद ही उस समय उसके शरीर में खून बूँदों की संख्या में कहीं पर बना रह गया हो, नहीं तो मृत्यु ने तिल-तिल करके उसके स्वास्थ्य को उदरस्थ कर लिया था।

मैं उसका शीतल, कोमल हाथ अपने हाथ में लेकर एक विचित्र प्रभाव से प्रभावित होकर बैठा रह गया।

अब मेरे मन में तब से बराबर यह विचार आता है कि जिसे मैं इतनी लापरवाही से भूले हुए था, क्या उसे अब जीवन में एक क्षण के लिए भी विस्मृत कर सकूंगा ?

भूल-सुधार

[१]

वे मोटर में आ रहे थे और मैं खिड़की से झांक रही थी। मोटर एकाएक दरवाजे पर आकर ठहर गयी। मामा और भइया झट उनके पास जा खड़े हुए। मैंने खिड़की बन्द कर दी। सब लोग मकान मे चले गये तो मैंने कापते हुए हाथों से उसे धीरे धीरे फिर खोल लिया। चाहा कि नीचे देखूँ, पर दिल ने धड़क कर रोक दिया।

मेरा कमरा दरवाज़े के ऊपर था। थोड़ी देर में सब लोग हँसते और बातें करते हुए निकले। मैंने हँसना अच्छी तरह सुन लिया। खिड़की की दराज़ में जाकर आंखें जमा दीं। उनके रेशमी बालो की लट उडकर माथे पर आगई थी। उसे दाहिने हाथ से हटाकर वे मोटर में

बैठ गये। भइया से कुछ कहा और मोटर मोडकर हवा होगये। मैं कठपुतली की तरह खडी रह गई।

मेरी छोटी बहिन जिसे सब हँसी में चञ्चल कहते थे, दरवाजे को ठेलकर घबराई हुई सी आई और चिल्लाने लगी चल, दीदी, जल्दी चलकर थाल सजा दे, जीजा जी आये हैं।

मैं उसे क्या जबाव देती? वे तो पहले ही चले गये,मुझे मन ही मन एक तरह की झुझलाहट आगई। पर चचल कब मानने वाली थी। वह बात बात में अपने नाम को सार्थक करती थी। खिलखिलाकर शोर मचाने लगी—मैं घटे भर से कोना-कोना छानती फिर रही हूँ। दीदी, तुम्हारे पैर पड़ूं, जल्दी चलो। जीजा आये हैं।

मैंने जरा तेज होकर कहा—तू बड़ी ढीठ है। मैं अभी भइया से तेरी तबियत झक करा दूँगी। भाग जा यहाँ से।

चञ्चल भ्रूकुञ्चित कर बोली—तो मैं अभी कहे देती हूँ कि वे न आवेंगी। जीजा को देखना हो, तो ऊपर ही आकर देख जावें।

वह तिनक कर चली गई, पर मैं उस निराश अवस्था में भी उसकी बातों पर हँस पडी।

दो ही मिनटों में चञ्चल ने लौटकर फिर सवाद दिया—जीजा कहीं चले गये हैं। अम्मा ने कहा है कि जा

साडी तुमने पहनी है, उसे उतार न डालना। वे अभी लौट आवेंगे।

दिल को कुछ ढाढस हुआ। मैंने वडे प्यार से पकड़ कर उसका मुख चूम लिया। मन ही मन कहा—तू वड़ी भली लडकी है। पर उसी समय यह सोचने से भी वाज न आई कि मुझसे मिलने से भी ज़रूरी कोई काम उनके जीवन में है! अच्छा, यदि है, तो मैं उसे समझ लूँगी।

[२]

रात के वारह वज जाने पर मेरा शृंगार स्वयं मुझे निर्लज्जता का स्वांग समझ पडा। कमरे में कोई नहीं था, फिर भी लज्जा के भाव से मैं गड़ सी गई। दिन भर प्रतीक्षा करने पर भी वे न आये! उनकी उदासीनता और उपेक्षा मुझे असह्य हो उठी।

मैंने अपने आभूषण और वस्त्र उतार कर फेंक दिये। एक फटी धोती शरीर पर लपेट कर पृथ्वी पर गिर पड़ी और जी भरकर खूब रोई। दो घंटे वाद जी कुछ साफ़ और सुस्थिर हुआ। वाढ़ निकल गई, मन का प्रवाह स्वच्छ और निर्मल हो चला। तव मैंने सोचा—वे अवश्य ही किसी संकट में पड़े मालूम होते हैं। नहीं तो, आकर भी तुरंत क्यों लौट जाते, कहाँ गये हैं, अच्छे तो हैं? मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वे सचमुच आने को छटपटा रहे

हैं, पर सकट में पड़ कर विवश हैं। बस, मुझसे नहीं रहा गया। उठकर बैठ गई और चन्द्रदेव की ओर अञ्चल पसार कर प्रार्थना की—हे विश्व-ब्रह्माण्ड के रक्षक! वे यहाँ आयें चाहे न आयें, तुम उनकी रक्षा करना।

प्रभात हुआ। उजाले के ही साथ घर के तमाम नौकर-चाकरों में यह चर्चा जोरों से फैली कि अब मेरा उन से विवाह न होगा। यही कहकर दरवाजे से लौट गये हैं लेकिन क्यों ऐसा कहा? इसके उत्तर की यथाविधि मीमांसा नहीं हो पाती थी। मुझे किसी तरह कमरे से निकलने का साहस न होता था।

करीब आठ बजे मामी ने आकर कहा—बेटी, सोच करने से क्या होता है? यह हम लोगों का दुर्भाग्य ही है कि ऐसा सुयोग्य और सुन्दर लड़का हाथ से निकल गया। यहा के आदमी किसी का बनता हुआ नहीं देख सकते।

मैंने धीरे से कहा—किसी को दोष देने से क्या लाभ है, मामी!

मामी—क्यों नहीं है?

मैं—वे आकर आप ही लौट गये तो जाने दीजिये न।

मामी—पर एकदम दहेज न लें ऐसे कितने वर

हैं। पढा लिखा, सुशील और खूबसूरत और कोई लड़का इन दामों में मिलना असम्भव है।

मैं—उन्होंने तो स्वयं ही प्रस्ताव किया था।

मामी—पर जानकर मक्खी कैसे निगली जा सकती है ? कुलीन लडके को लडकियों की क्या कमी। यहां से लौटते ही महेशपुर के वडे घर में उसकी बातचीत पक्की हो गई है। किसी ने उन्हें वता दिया है कि तुम्हारे चाचा का नीच कुल की एक स्त्री से सम्बन्ध था।

मैं आवेश में आकर बोली—तो जाने दीजिए। जो उनके दोष का दण्ड हमें देना चाहें, उन्हें जाने दीजिये।

मामी—जाने कैसे दें। जो भुगतना है, उसे तो किसी तरह पूरा करना ही पडेगा।

मैं—कैसा भुगतना ? मैं व्याह ही नहीं करूँगी। क्या मैं समाज की दशा नहीं जानती ? छिप-छिपकर ढोंग के साथ पाप किया जाय या धन और शक्ति के ज़ोर से किया जाय तब कोई दण्ड देने वाला न दिखाई दे और जब साहस और प्रेम—

मामी ने बात काटकर कहा—कबतक तुम विवाह न करोगी ?

मैं—जबतक शरीर में प्राण हैं।

[३]

फूल की महक फैलने में देर लगती है पर मैंने जो कुछ कहा उसकी खबर घर-घर चुटकी बजाते पहुँच गई।

कलियुग घुटनों के बल खेल रहा था। अब वह उठकर खडा होगया। लडकिया विवाह के लिए आप ही सम्मति देने लगीं। इस महा अनर्थ की चर्चा करके धर्म-प्राण लोगों में तहलका मच गया।

मैं चञ्चल को सुन्दरकाण्ड पढ़ा रही थी। पास ही दूसरे कमरे में मामी का इजलास लगा था। वहां इसी असुन्दर विषय पर लका-काण्ड छिड़ा था। मेरा जी पहले ही से दुखा हुआ था। रामायण बन्द करके मैं जाकर चारपाई पर लेट रही।

चञ्चल ने आकर चुपचाप मेरे कान में कहा—दीदी! दादा शहर से लौट आये हैं। वे जीजा की कुछ खबर लाये हैं।

मैं आंखें पोंछकर उठ बैठी। एक हलकी चपत उसके गाल पर जमाकर कहा—जीजा कैसे होते हैं? खबरदार, अब कभी इस तरह न कहना।

चञ्चल—जीजा नहीं तो कौन हैं?

कोई नहीं—कहकर मैंने बाए हाथ से चुपचाप अपने आंसू की बूंद पोंछ लीं।

भय्या मामा से क्या कहते हैं—यह सुनने के लिए मैं रसोईघर में जा बैठी। सुना—भय्या से उनकी मुलाक़ात नहीं हो सकी। परसों उनका तिलक चढ़ेगा।

आगे सुनने की इच्छा नहीं हुई। अनेक बिच्छुओं के डंकों के दंशन से भी अधिक पीड़ा मुझे होने लगी। मैंने मन ही मन कहा—मैं यह सब सुनने के लिए आई ही क्यों? मैं भी तो एक निश्चय कर चुकी हूँ। अब यदि वे आकर पैरों पर सिर भी रख दें, तो क्या मैं अपना प्रण त्याग सकती हूँ?

[४]

कौन जानता था, पांसा इतनी जल्दी पलट सकता है। उनकी बरात दरवाजे से लौट आई, दहेज का करार पूरा करने के लिये विवश किये जाने पर लड़की के पिता ने गरम होकर कहा—चुपचाप काम किये चलो, कुल के मुताबिक हठ करना शोभा देता है। देने के लिए ही मेरे पास बहुत धन होता, तो अपने से नीचे घर में सम्बन्ध क्यों ठहराता?

यह बात निकली थी कि वे उछल पड़े। न जाने क्यों? पर मैं समझती हूँ कि उन्हें अपने आचरण का ध्यान आ गया होगा। चाहे जिसके बहाने हो उन्होंने मेरे घर का जो अपमान किया था उसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें होगया। वे तुरंत चौक पर से उठ खड़े हुए। चारों

ओर हाहाकार मच गया । मार-पीट होते होते बच गई । बरात लौट आई ।

इस अन्याय का प्रतिशोध करने के लिए एक नवयुवक बराती ने अपने आपको पेश किया । वह चौक पर बिठा दिया गया । पुरोहित मन्त्र पढ़ने के लिए आ बैठे, पर घर में लड़की न थी लोगों ने दौड़कर घर का कोना-कोना छान डाला । गांव में चारों तरफ आदमी रोशनी ले-लेकर दौड़े । कुओं में तलाश किया गया, तालाब देखे गये, पर लड़की का कहीं पता न चला ।

मैंने यह सब सुना तो जी में आया कि कहीं वह लड़की मिल जाय तो एक बार उसके पैरों की धूल अपने शीश पर चढ़ाकर मैं भी उसके चरण-चिह्नों का अनुसरण करती हुई जीवन व्यतीत करूँ । उसे मैं ख़ूब जानती थी । उसका नाम अन्नपूर्णा था । उस छोटी-सी भोली-भाली लड़की में इतना साहस होगा,यह तो मैं कल्पना भी न कर सकती थी ।

[५]

लो, बिल्ली के भाग से छींका टूट पड़ा—कहती मामी आकर मेरे पास बैठ गई और हँसने लगीं । उनका एक-एक शब्द बर्छे की तीव्र नोक की तरह मेरे मर्मस्थल में बिंध गया ।

कोई उत्साह न पाने पर भी उन्होंने कहा—मैंने तुम्हारे

मामा से कह दिया है कि इस वार कुछ उठा न रक्खा जाय। लड़की को जब वही लडका पसन्द है तो हमलोग क्यों न प्रयत्न करें। मेरा जी कहता है कि अब वे काफ़ी सीख गये हैं।

मुझसे नहीं रहा गया। मैंने खीझकर कहा—आपसे यह सब कहा किसने था? मेरे मन में क्या है, यह आप जानने का दावा करतीं हैं?

मामी—मैं सूरत देखकर मन की बात जान लेती हूँ।

मैं—ख़ूब, मैंने तो उसी दिन स्पष्ट कह दिया था—मैं व्याह न करूँगी। आज भी मैं उसीको दुहराती हूँ। आप कोई प्रयत्न करेंगी तो वह व्यर्थ होगा। मुझे विवाह के लिए कोई तय्यार नहीं कर सकता। मैंने इस समाज का ढोंग समझ लिया।

मैं उठकर चली गई। आगे उनका अनुरोध सुनने की मुझे तनिक भी इच्छा न रह गई थी।

पिता-माता की मृत्यु होने के समय मामा आकर हम भाई-बहनों के अभिभावक बने थे। वे अब भी अपना कार्य उसी प्रकार करते थे, पर मामी के व्यवहार में आदि से अन्त तक अधिकार की बू भरी थी। यद्यपि मैंने इस बात की कभी परवा नहीं की।

[६]

चञ्चल की गुड़िया के व्याह की धूमधाम थी। वह मुझे फूल-पत्तियों की बन्दनवार तय्यार कर देने का काम देकर चली गई थी। मैं घर के पिछवाड़े का दरवाज़ा खोल कर अपने काम में लग गई थी। सामने गांव का बड़ा-सा तालाब था। उसमें खूब कमल खिल रहे थे। किनारे पर एक आम का पेड़ था। उसीके नीचे एक लड़की चुपचाप खड़ी थी। उसका ध्यान किसी एक तरफ़ स्थिर हो रहा था। उसके मुँह घुमाने पर मैंने उँगली के इशारे से उसे बुलाया।

' वह आकर मेरे गले से लग गई। बड़ी देर तक हम दोनों मिलकर खूब रोईं। फिर मैंने कहा—अन्नपूर्णा! तुम्हारी यह क्या हालत होगई है? तुम्हे देखकर तो हृदय फटा जा रहा है।

उसने कुछ उत्तर न दिया। मेरी गोद में अपना मुंह छिपा लिया। बाहर गुड़िया के व्याह का बाजा बज उठा। चञ्चल अपनी सखियों के साथ दौड़कर बरात देखने गई, पर तुरन्त ही मेरे पास यह कहती हुई दौड़ आई—दीदी, चल देख, बरात आगई है और बाबू के साथ जीजा भी आये हैं।

पर मेरी गोद में अन्नपूर्णा को पड़ी देखकर वह कुछ सकुच गई। इतने में भइया के साथ वे भी उसी तरफ़ से

घर में आ पहुचे। मैं उठी नहीं। सिर का कपड़ा ज़रा खींचकर अन्नपूर्णा को गोद में लिये उसी तरह बैठी रही।

मामी ने उनका स्वागत करते हुए कहा—हम लोगों के बड़े भाग्य, जो बेटा! आज तुम फिर आ गये।

उन्होंने सकोच से सिर नीचाकर कहा—भूल-सुधार करने के लिये आया हूँ।

मैंने निस्सकोच गर्व और हर्ष के आँसू भरकर कहा—हाँ, अच्छा है, भूल-सुधार करो—यह कहकर मैं ने अन्नपूर्णा का हाथ उनकी ओर बढा दिया।

सबलोग आश्चर्य्य से मेरी ओर ताकते रह गये।

उन्होंने समझा—शायद मेरा मस्तिष्क विकृत हो गया है। किन्तु मैं सोचती थी कि क्या उनलोगों की दृष्टि की अपेक्षा जीवन का और कोई महत्तर लक्ष नहीं हो सकता?

—

पतिता

(१६१४ ईस्वी)

नई जवानी, उठते हुये यौवन में नथिया का व्याह रामसूरत के साथ हुआ। उसका घर तराई में था, जहां क़ानूनों की पावन्दी पर कोई ध्यान नहीं देता। वहा जिसकी लाठी उसी की भैंस है। शक्ति का वहा प्राधान्य है, साहस का वहा निवास है। वहा के आदमी चीते और तेंदुए को मारने के लिये ऊँचे ऊँचे मचान नहीं बनाते, छिप-कर उस पर वन्दूकों से वार नहीं करते, वे सामने ताल ठोंककर उसे ललकारते हैं और डंडे से समाप्त कर देते हैं। वहीं वह जन्मी थी, वहीं पली थी और वहीं खेली। उसने न तो संसार देखा था, न उसके विषय में बहुत जानती थी।

बड़े-बड़े अरमान लेकर, सत्तरह मील पैदल रास्ता तय करके, वह लम्बा घूँघट डालकर सुसराल आई। वसन्त ऋतु थी। हरी हरी खेती लहरा रही थी। फूली हुई मटर, फली हुई सरसों से भरे खेत, देखकर उसका जी उल्लास से पूर्ण हो रहा था। वह समझती थी, उसके देवर ने ही उन खेतों को जोता है और स्वामी ने उन्हें बोया है। वे जब कट जायँगे तो नाज से उसका घर भर जायगा। चैन की वंशी बजेगी। वह देवर को मीठे-मीठे पकवान परोसकर सन्तुष्ट करेगी, स्वामी को घी दूध से छका डालेगी। ननद को सावन में चूनरी रँगाकर भेजेगी, पर सध्या समय वह एक उजड़े हुए गांव के करीब पहुँची, और छोटे देवर ने उससे धीरे से कहा—भौजाई, अपना घर आ गया है।

नथिया ने चौंककर घूँघट के भीतर अपनी चञ्चल आँखें चारों ओर दौड़ाईं, उसे सामनेवाले गाँव में कोई ऐसा घर दिखाई न पड़ा, जिसे वह अपनी सुसराल मान सके। उसने समझा मायके में घर के भीतर उसने देवर से जो मज़ाक की थी, वह उसका बदला लेने का उपक्रम कर रहा है। उसने देवर की भोली बुद्धि पर ज़रा-सा हँस दिया, पर जब उसके साथी एक छोटी-सी झोंपड़ी के सामने एक चारपाई पर बैठ गए और कई स्त्रियां उसे लेने के लिए आ गईं, तब वह एक बार घबराहट में पड़ गई।

स्त्रियां उसे घर के भीतर ले गईं। सब ने बारी-बारी

से घूँघट हटाकर उसका मुँह देखा, पर नथिया दृष्टि भर किसी की ओर ताक न सकी। उसकी पलकें भीग रही थीं। उसकी आँखें बरस रहीं थीं।

उसके आँसुओं की सच्ची परिभाषा कोई न कर सका। सबने यही समझा, नया-नया घर छूटा है। मा-बाप की याद आती होगी। केवल उसकी ननद ने एक हलकी चुटकी मारकर धीरे से व्यग्य किया—भौजाई! किसी की याद आती हो तो मुझसे चुपके कहो। मैं तुम्हारा सब काम बना दूँगी।

नथिया ने मन की वेदना मन ही में दबा ली. वह नारी थी, परवश थी, अबला थी और करती ही क्या? उसने यही कहकर दिल को समझा लिया—जो दे आई हूँ वही तो मिलेगा।

दो दिन के अन्दर वह घर की दरिद्रता से ऐसी हिल-मिल गई कि उसे जरा भी दु ख न होने लगा। वह सुबह से शाम तक घर के काम में पागल की तरह जुटी रहने लगी। वह बैठकर खाना नहीं जानती थी, आलस्य उसे छू तक न गया था। उसके पास महात्माओं का सा। नर्मल हृदय था और कल के पुरजों की तरह शक्ति।

(१९१५ ईस्वी)

नथिया घर की दशा जानती थी, इसलिये तीन महीने आये हो गये उसने पति से किसी बात की फरमायश न की,

पर जब कभी वह उससे मिलती तो किसी न किसी उद्योग के लिए उत्साहित करती। वह अपनी छोटी अक्ल के मुताबिक उसे नये-नये रोजगार बतलाती, खेती में उन्नति करने की ओर ध्यान दिलाती।

राममूरत भोला था और ईमानदार, पर स्त्री की बातों पर वह मन ही मन हँसकर कहता—कैसी उस्ताद है। सीधे मतलब की बात न कहकर, यों कहती है—जैसे मैं निरा बच्चा हूँ। लेकिन उसकी फ़रमायश तो उचित ही है।

ब्याह की चर्चा चली थी, उसी वक्त से राममूरत स्त्री की फरमायशों के लिये तैयारी कर रहा था। उसने दो फसलों में पूरे साढ़े पांच रुपये बचा रक्खे थे। इसीलिये सीधे ढग से कोई फरमायश न करते देखकर वह नथिया पर कभी कभी झुँझला उठता था। आखिर एक दिन वह ख़ुद ही तारापुर के बजार से चुपचाप एक नीले रंग की नुमायशी कुरती ख़रीद लाया।

बड़े अनुरोध और बड़ी प्रार्थना के बाद नथिया ने उसे पहन तो लिया, पर पति की बड़ी भर्त्सना की। उसने गुस्से से छिटककर कहा—मैं यह सब न करूँगी। तुम्हारे आँखें नहीं हैं, क्या तुम देखते नहीं हो कि घर में खाने तक की तकलीफ है और तुम इस तरह रुपया फेंक आये, इन रुपयों का अनाज खरीदकर रख दिया होता।

उस दिन रात भर वह स्वामी से मन ही मन रूठी रही। राममूरत भी स्त्री की विचित्र तबियत से खिन्न हो गया।

कुरती का रंग नीला था, विष का परिणाम भी कुछ इसी तरह का होता है। वह कुरती सचमुच विष की पुड़िया थी, कलह का घर थी। सबेरे कलसी लेकर वह ज्यों ही पानी को जाने लगी उसी समय सास ने कहा—रानी जी! तुम्हारे कपड़े भींग न जायँगे। तुम बैठो और हुक्म भर चलाती रहो। यह सब काम तो हम लोगों का है।

नथिया पर घड़ों पानी पड़ गया। वह सिमट गई, सकुच गई। राममूरत की जिद् पर मन ही मन कुपित हो उठी। थोड़ी ही देर में उसने वह कुरती कहीं छिपा दी, पर फल कुछ न हुआ। उस कुरती ने घर भर में जो आग लगा दी, वह किसी तरह शांत न हो सकी।

उस दिन नथिया को घर के सारे कामों से फ़ुरसत दे दी गई। गोबर उसे नहीं उठाना पड़ा, झाड़ू उसे नहीं लगाने दी गई। पानी दूसरों ने भरा। चूल्हा औरों ने जलाया।—नथिया एक दीवार के पास रोती रही।

चाचा ने राममूरत को बुलाकर कहा—इस घर में अब तुम्हारे लिए जगह नहीं है। कल से तुम्हारा चूल्हा अलग जलेगा। जाकर अपना इन्तिज़ाम कर लो।

राममूरत ने चुपचाप सुन लिया। उसने कोई उत्तर न दिया, लेकिन उसी रात को वह घर से निकल गया। स्त्री, माँ, चाचा सब की भर्त्सना से उसका जी पक गया था। वह संसार में कुछ पुरुषार्थ करने के इरादे से चल दिया।

प्रातःकाल पति को न पाकर नथिया के होश उड़ गये। उसने सास को सुनाने के इरादे से बे-ख़ौफ होकर कहा—अब सब का जी ठंडा हो जायगा।

उन दिनों महायुद्ध छिड़ा था। आदमियों की ऐसी बेक़दरी न थी। घर से रूठा हुआ कोई युवक इस तरह गलियो में ख़ाक छानता फिरने न पाता था। जवानी की उस समय अच्छी क़ीमत लगती थी। हड्डियों के पंजर के भी दाम खड़े हो जाते थे। बौनों की ऊँचाई भी मान ली जाती थी। रँगरूटों की भरती धड़ल्ले से हो रही थी। राममूरत भी फ़ौज में भरती हो गया।

कुछ महीनों बाद फ्रांस के युद्धक्षेत्र से उसका एक पत्र घर पहुँचा। बिछुड़े हुए आदमी का पता लगा, पर अभी उससे मिलना असम्भव था।—उसने लिखा था—घर लौटने की कोई उम्मेद नहीं है। हर वक्त मौत के दरवाज़े पर पहरा देना पड़ता है।

(१६१६ ईस्वी)

इतने दिनों में नथिया की बुरी बेकदरी हो गई। बात-बात में कलह हो पड़ता था। उसका कोई तरफ़दार न था। जिसका जी आता उसे उलटी-सीधी सुनाता। उसके जीवन का तमाम रस आंसुओंके द्वारा ढुलक चुका था। मुँह सूख गया था। शरीर कुम्हला गया था।

वह भी अब किसी की बात का जबाव देने से न चूकती थी। उसका स्वभाव चिडचिड़ा हो गया था। व्यंग्य और ताने वह बड़ी कठोरता से दे डालती थी। वही कुरती जो एक बार उसने शर्म और ग्लानि के मारे छिपा दी थी, अब फ़ुरसत के समय पहनकर दूसरों को जलाने का उपक्रम करती। होठों पर वह मिस्सी रोज़ ही रचाती, बालों को रोज़ ही ठीक करती केवल इसीलिये कि लोग जलें, कुढ़ें। नथिया सचमुच अब वह नथिया न थी। हर काम करने से पहले वह एक न एक लगती हुई बात कह देती थी। धीरे-धीरे नथिया का रहना सब को असह्य हो गया। तय किया गया कि उसे मायके भेज दिया जाय, पर वह मैदान छोड़कर जाना कायरता समझती थी। जब उसे भेजने की तरकीब सोची जा रही थी, वह छिपकर घर से निकल गई। दरवाज़े के बाहर खड़े होकर कहा—देखें, कौन मुझे गांव से निकालता है। गांव में रहूँगी, यहीं रहकर सबकी छाती पर होले भूनूँगी। जैसा मेरा जी

जलाया है, उसी तरह एक-एक को भुनते देखकर ही मैं कहीं जाऊँगी।

नथिया उसी गांव में रहने लगी। उसने लज्जा त्याग दी। बहुओं के लम्बे घूँघट को तिलाञ्जलि दे दी। ससुराल-वालों को हर तरह से नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। वह मजदूरी करती थी। मर्दों के साथ हँसती-बोलती थी।

उसके समाने अनेक प्रलोभन थे। परमात्मा ने उसे रूप ही ऐसा दे रखा था। जो देखता उस पर जादू हो जाता, पर वह बड़ी सतर्क रहती थी। स्वामी की आशा और स्मृति उसका हर समय पथप्रदर्शन करती थी। नथिया इन दिनों पानी में जमा हुआ कमल थी, जल का विकार उसे स्पर्श नहीं कर पाता था।

किन्तु शोक! वह सहारा भी टूट गया। वह अंतिम अवलम्ब भी विच्छिन्न हो गया। राममूरत फ्रास की सीमा पर वीरगति को प्राप्त हुआ। वह बहादुर सिपाही संसार में अमन क़ायम करने के लिये उत्सर्ग हो गया, पर उसे क्या मालूम था कि उसके छोटे-से घर में ही भयङ्कर आग लगी हुई है। उसकी प्रेममयी गृहिणी तिल-तिल करके उसमें भस्म हो रही है। विश्व में शान्ति स्थापित करने की उसकी दुराशा भ्रान्त है, पर यदि वह चाहे तो अपने घर में फिर एक बार प्रेम की गंगा बहा सकता है।

नथिया स्वामी के लिये .खूब रोई। रोकर उसने सारे गम को बहा दिया।

(१६१७ ईस्वी)

सामने सीने पर सात गोलियाँ खाकर राममूरत ने प्राण त्यागे थे। उसकी बहादुरी की खबर से अखबारों के कालम रँगे गये थे। वह कमर के ऊपर तक बर्फ में ढक गया था, लेकिन युद्ध से मुँह नहीं मोड़ा। वैसा बहादुर, वैसा पराक्रमी, कोई दूसरा योद्धा न था। यह बात तमाम अफ़सरों ने स्वीकार को थी, लेकिन किसी को यह नहीं मालूम था कि उसकी वीरता किस आकांक्षा से अनुप्राणित हुई थी। किसके सामने अपने पुरुषार्थ को अमर करने के लिये उसने अपने आपको उत्सर्ग करा दिया, लेकिन पीछे पैर नहीं हटाया ?

नथिया ने सब सुना। सरकार ने उसके परिवार के लिये एक माकूल पेन्शन स्वीकार की। नथिया की आँखों से आँसू ढुलक पड़े। वह पति को सदा काहिल और उद्योग-शून्य समझती थी। उसे क्या पता था कि उसमें कैसी अद्भुत शक्ति छिपी थी। बहुत दिनों बाद वह .खूब जी भरकर रोई। स्वामी की मधुर करुण-स्मृति ने उसे व्याकुल कर दिया।

पेन्शन भी नथिया को न मिल सकी। जिसके चाल-चलन का रजिस्टर विधाता के यहा अभी बिल्कुल कोरा

पड़ा था, वह बदचलन करार दी गई। राममूरत की स्त्री कहलाने का उसका कानूनी अधिकार भी छिन गया। मनुष्य का स्वार्थ क्या नहीं करता! बेचारी अबला जी मसोस कर रह गई। ऐसे आघात, ऐसी हृदयहीनता की वह कल्पना भी न कर पाई थी।

एक बार फिर उसका हृदय उबल पड़ा। उसमें क्रोध, आवेश और प्रतिकार की आग भड़क उठी। अपने स्वार्थ के सामने जिन्होंने उसके सर्वस्व पर उँगली उठाई, वे कोई ग़ैर नहीं थे। अपने घर के आदमी थे, और अपने घर की स्त्रियां। नथिया ने अपने दुर्भाग्य को अच्छी तरह कोसा।

उसी शाम को उसने अपने सास-ससुर के संदेह पर यथार्थता की मुहर लगा दी। स्वामी की जिस पवित्र स्मृति को लेकर वह अब तक संयम से रही थी, आज निष्ठुरता से तहस-नहस कर दिया। वह आँखें मूँदकर पतन के गर्त में गिर पड़ी। ज़रा सी देर में उसने सबके मुँह में कालिख पोत दी, पर मालूम नहीं उसके इस आचरण की गिनती विश्वनियन्ता के यहाँ पाप में की गई या पुण्य में?—क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप शीघ्र ही उसे एक सुन्दर सजीव खिलौना खेलने को मिल गया। नथिया ने बड़े प्यार से उसका स्वागत किया। मुँह चूमा और दो बूँद आंसू चुपचाप पोंछ डाले। उसे मालूम पड़ा जैसे उसके

ऊपर से कोई भार उतर गया हो। थोडी ही देर में किसी बात की याद कर उसके पतले-फीके होठों पर सूखी हँसी खेल गई।

(१९१८ ईस्वी)

सरदी का मौसम था। एकाएक पुलिस ने आकर नथिया की झोंपडी घेर ली। तलाशी हुई। वह गिरफ्तार हो गई। उसके घर में चोरी का माल निकला। उसने पड़ोसी के घर से कपड़े चुराये थे।

अदालत में पेशी हुई। नथिया ने बगैर संकोच के स्वीकार कर लिया।

जज ने कुछ विस्मित होकर पूछा—तुमने कपडे क्यों चुराये थे? क्या कपड़े चुराकर ही तुम अपना काम चलाती थीं?

नथिया ने कोई उत्तर नहीं देना चाहा। एक लम्बी सांस खींचकर चुपचाप खडी रही।

जज ने फिर पूछा—क्या मैं जान सकता हूँ कि तुमने कपड़े किस वास्ते चुराये थे? या तुम्हारे ऊपर जबरदस्ती इलजाम लगाया जाता है?

नथिया की आँखें भर आईं। उसने अपने नग्न बच्चे को जीर्ण-शीर्ण अञ्चल में दबाकर कहा—मैंने चोरी की थी, अपने लिये नहीं, इस अपने प्यारे बच्चे के लिये। मैं

गरीब विधवा हूँ। मेरे पास एक पैसा भी नहीं था, जो मैं इसे सर्दी से बचाने के लिए कोई कपड़ा खरीद देती। इसीलिए—केवल इसीलिये मुझे चोरी करनी पड़ी। आप मुझे सज़ा दीजिये। मैं सज़ा से नहीं डरती, लेकिन साथ ही मेरे बच्चे को ओढ़ने के लिये कोई कपड़ा भी कहीं से दिला दीजिये। बड़ी कृपा होगी।

जज का दिल पिघल गया। उसने भर्राई हुई आवाज़ से फैसला सुना दिया। उसने कहा—जिस परिस्थिति में पड़कर इसने कसूर किया है, वह रहम के क़ाबिल है और यदि वैसा न करके मैं इसे जेल भेज दूँ तो न्यायानुसार मैं दोषी हूँ और मेरा फैसला किसी दूसरे को करना चाहिये। कारण कि जेल में इसके सुधार से अधिक पतन की संभावना है।

मालूम पड़ता है विवश अबला के पापों की समस्त रेखाएँ पुण्य के खज़ाने में सचित हुईं, क्योंकि तब से वह बड़े आनन्द में है। बच्चे की किलकारियों में विश्व का समस्त विभव उसे प्राप्त है।

भग्न-मन्दिर

वहाँ वह क्यों रहता था, यह कोई नहीं जानता। कब से था, इसका भी किसी को पता नहीं। क्योंकि वह हँसती हुई उषा के साथ उसी टूटे मन्दिर से निकलता था और अलसाई हुई सन्ध्या में फिर अन्तर्लीन हो जाता था। सुनहले मध्याह्न मे भी तो लोग उसे देखते ही थे, पर गहरी रात में भी वह वहीं रहता होगा यह सोचकर सभी को थोड़ा-बहुत आश्चर्य होता था।

वह मन्दिर बस्ती से दूर निर्जन में था। दिन में चर-वाहों के लड़के और अनेक यात्री ही उसकी छाया का आश्रय लेते और उसे रमणीय बनाये रहते थे, पर उनमें से कोई भी उस बूढे को नहीं जानता था। जब वह पत्थर की चौखट के पास अपने रूखे केशों पर हाथ फेरता हुआ

इधर-उधर जल्दी जल्दी देखा करता था, तब लोग यही समझते थे कि यह पागल है। कभी-कभी यात्री एक दो पैसा उसकी गोद में डाल देते थे। यही उसकी मजदूरी थी। अगर वह बूढ़ा न होता तो शायद उस मन्दिर का निशान भी मिट गया होता। कुछ लोग तो कहते थे, कि उस मन्दिर में उसके आत्मीयों की समाधि है, उन्हीं के कारण वह वहाँ रहता है।

जबतक वह उस मन्दिर में रहा, तबतक ऐसा ही मालूम पड़ता था कि वह सदा वैसा ही बना रहेगा। आखिर एक दिन बूढ़ा गहरी नींद सो गया। न जाने कितनों ने आकर जगाया पर नींद न टूटी। उसके बाल हवा में उड़-उड़कर नींद की रक्षा कर रहे थे।

ऐसी साधारण रीति से वह बूढ़ा मन्दिर में लेटकर लाखों कोस दूर जाकर रहने लगा। आदमी का मोल उसके न रहने पर मालूम होता है। चरवाहे जब भोजन करने बैठते तो रोटी के टुकड़े रोने लगते, यात्री जब समाधि-मन्दिर के बाहर आता, तो पैसा मचल पड़ता। आज उन्हें मनानेवाले उस बूढ़े की याद हर कोई करता है। सबके मुँह पर बूढ़े की याद के शब्द, और कल्पना में उसका रेखा-चित्र! क्यों?—इसीलिए कि मन्दिर के भीतर अँधेरे कोने में पैसों का एक ऊँचा ढेर लगा था। अरे! तो क्या कभी उसने एक पैसा भी अपने काम में नहीं

लगाया ? फिर इतने दिनों तक कैसे जीता रहा ? कोई पहुँचा हुआ सिद्धपुरुष था । ऐसी महानआत्मा अब काहे को दर्शन देगी ? कह दो, यहाँ उस बूढे की पवित्र स्मृति में पुण्यतीर्थ का उद्घाटन होगा । मन्दिर बनेगा ।

"क्यों बनेगा ? कुछ नहीं बनेगा । उस बूढे की सब चीजों पर मेरा अधिकार है । वह मेरा भावी पति था । मेरे यहाँ से बसी लेकर मछली मारने आया था । उन्हीं मछलियों की दावत में हमारी शादी होने को थी, पर वह लौटकर नहीं गया—हाँ, उस दिन से मैं बराबर उसकी प्रतीक्षा करती रही । मैंने घर के सब आदमियो को भेजा, हजार बार संदेशा पाने पर भी वह नहीं गया । सबके हाथ यही दो शब्द भेज दिये, कि अभी एक लहमे में आता हूँ । बंसी की कटिया मछली के मुँह में पड़ी है । मसाला तैयार रहे, कड़ाही मे तेल छोड़वा देना—मैं इन्हीं पैरों आता हूँ । जरा न ठहरने से फूल मैले हो जायँगे, यहीं छोड़ देने से मुरझा जायँगे । एक-दो-तीन, इसी तरह तमाम आत्मीय आ-आकर वापस गये, जिनमें अब किसी का नाम भी नहीं रहा । एक युग की कथा है, पर मैंने उसकी प्रतीक्षा नहीं छोड़ी थी । ऐसा सच्चा, ऐसा बातवाला मर्द दुनियाँ के सिरे तक नहीं मिल सकता, यह मैं जानती थी—फिर भला मैं उसे धोखा देकर क्यों अपयश मोल लेती । कितने लोगों ने मेरे सामने सुन्दर-

सुन्दर युवक ला-लाकर खड़े किये। मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं, और अपने सङ्कल्प को स्थिर रक्खा। अब संसार बदल गया है। लोग मुझे भूल गये हैं। उस समय का कोई रहा भी तो नहीं।—जब से वह मछली लेने आया, तब से घर- बाहर के किवाड़ खुले पड़े हैं—आज तक कभी बन्द नहीं किये गये। कड़ाही का तेल हवा में उड़ गया और मसाला सूखकर मिट्टी में मिल गया। पैरों के महावर और हाथों की मेहदी को भी मैंने बरसों तक सुरक्षित रक्खा था, सिर के बाल तो अबतक उसी दिन के बँधे हैं।—इसलिए मेरा इसके ऊपर कुछ अधिकार है। मैं यहीं रहूँगी—इस शव के साथ मेरा ग्रन्थि-बन्धन होगा।"

लोग ताज्जुब करते थे, पर उस बुढ़िया के विरुद्ध कोई कुछ कहने का साहस न कर सका। रात भर मन्दिर के भीतर चिराग़ जलता रहा, जिसे लोगों ने कौतूहलवश रात को कई बार देखा। सवेरा हुआ, तो एक के स्थान पर दो शव पड़े थे। बुढ़िया का अञ्चल बूढ़े की लँगोटी के सिरे में बँधा था।

यह नई घटना एक नई लहर पैदा कर गई। जिस बूढ़े का जीवन सादगी की मूर्ति समझ पड़ता था, उसमें इतने रहस्य भरे होंगे, यह ब्रह्मा के सिवा किसी के जानने की बात न थी। न कोई जानता ही था, पर अब लोग खोद-खोदकर इसकी चर्चा करने लगे कि बूढ़ा घर क्यों

वापस नहीं गया था ? कैसे फूल और कैसा हार ? शायद बुढ़िया पगली रही होगी, या सन्निपात का विकार होगा। लोगों में नाना प्रकार की कल्पनाएँ फैल रही थीं। आप ताज्जुब करेंगे, अगर मेरी सुनी हुई कथा न होती तो सब उस रात को 'स्वप्न की रात' कहकर उड़ा देते। अन्तिम समय बूढे के मुँह से इन शब्दों में मैंने सभी कहानी सुनी थी.—

"बंसी की कटिया में मछली फँसी थी और मेरा मन उसके सुनहले केश-पाश में उलझ गया। बंसी छूटकर जल में जा पडी—और मैं फिरकर उसकी ओर देखने लगा। उसने मेरा कन्धा पकड़कर निर्गन्ध बनैले फूलों की माला किस फ़ुर्ती से मेरे हाथ में दे दी, और चपला की चमक की तरह तालाब के पार वृक्षों की ओट में यह कहती हुई चली गई—इसे मन्दिर में लेकर खड़े रहना, मैं अभी आती हूँ—ले जाऊँगी।

उस समय हँसते हुए आकाश में दिन और रात का मधुर मिलन हो रहा था। क्षितिज के छोर पर प्रकृति की अनुराग-लीला का मनोरम दृश्य मैंने पहली बार उस रूप में अनुभव किया था। बंसी के खिसकजाने की चिन्ता नहीं थी, न मछली के छूटजाने का खेद। उसके अलसी के फूल की तरह स्निग्ध आसमानी लोचनों की तरेर, उँगली के इशारे की अधिकार-पूर्ण आज्ञा, मेरे लिए देवी

की आज्ञा थी। चिन्ता या खेद की तो कोई बात अब-तक मेरी समझ में नहीं आती, हाँ स्वप्न-लोक के तारे की तरह उसके चले जाने से मज़ा किरकिरा ज़रूर हो गया था—पर वह भी उसकी लौटने की अवधि का विचार करके एक प्रकार का आनन्द ही देता था। सच पूछो, तो सब तरफ़ आनन्द ही आनन्द था। तालाव की लहरों में, तथा वह जिधर से आई थी और जिस ओर चली गई थी।

मैं वह हार लेकर उसकी प्रतीक्षा में आकर मन्दिर के द्वार पर खड़ा हो गया। सेकंड, मिनट, घंटे, दिन-रात आकर चले गये, पर वह न लौटी। प्रतीक्षा में आँखें धुँधला गईं, बाल पक गये। फूलों का रस उड़ गया, हार की एक-एक पखुरी विलीन हो गई। मैं यही सोचता रहा कि एक बार वह आ जाती और देख लेती कि मैंने उसके आदेश का उल्लङ्घन नहीं किया। उसके आने की कैसी व्याकुल उत्कण्ठा थी, पर वह कहाँ आई? एक एक कर मेरी सारी आकांक्षायें और मनोरथ इसी समाधि-मन्दिर में दफ़न होगये। बहुत सी सन्ध्याओं की लाली तालाव की तरङ्गों पर लहराकर चली गई, अनेक बार चाँदनी ने आकाश से उतरकर अवगुण्ठनवती मृणालिनी का चुम्बन किया, बार-बार मलयानिल के झोंके तालाव के पार से चुपचाप आकर प्रसुप्त होगये, पर कोई यह न बता सका कि उसके वापस आने में कितनी देर है।

गुलाब के कान में जब भौंरा कोई भेद की बात कहने आता, तब मैं पहले उसके पास पहुँच जाता था। पत्तियाँ हिलहिल कर जब सङ्केत करतीं, तब मैं सब समझ लिया करता था। समाधि-मन्दिर की कोई भी प्रतिध्वनि ऐसी नहीं हुई जिसे मैंने न सुना हो।—पर किसी को कुछ मालूम नहीं था।

अब फूलों का वह हार न रहा, न मेरी आँखों की वह अतृप्त दृष्टि। उसका अमलिन लावण्य भी अब वैसा न होगा—कौन जाने? पर मेरी स्मृति की गोद में आज भी उसका वही रूप है।

इतनी कथा सुन लेने के बाद अब तुम पूछते हो कि वह कौन थी? वाह, अगर मैं इतना ही जानता तो किसी से बुलवा न लेता! अगर वह भूल गई होती तो याद दिलवा देता। मुझे यक़ीन है कि तब तो वह तुरन्त ही आती। अजी मैं इतना ही तो न जानता था। अपने ही मन में रात-दिन सङ्कल्प-विकल्पों के बाद यह स्थिर कर सका हूँ कि वह राजकुमारी नहीं, देवकन्या होगी। मेरी परीक्षा ले गई है, फिर ऐसा भाग्य छोड़कर जाने का कौन विचार करता। तुम्हारे न मानने से क्या होता है? मैं कहता हूँ वह देव-कन्या ही थी। अगर मैं अभी जाने लगूँ, तो वह आ जायगी। यह सब तुम नहीं जान सकते।

अगर उसे तुमने देखा होता तो यही सलाह तुम भी देते।

× × ×

बूढ़े की बातों के साथ उसका कानों सुना और आँखों देखा सत्य लिखा जा चुका है, आगे की बातें मेरे स्वप्न की हैं। इसे आप चाहे माने या न माने, यह स्वप्न मैंने उसी स्तूप की छाया में देखा था। इसलिए इलहाम से कम इसका मूल्य नहीं।

"दुलहे के लिए रङ्ग-बिरङ्गे फूलों का हार बनाकर जल्दी जल्दी एक बालिका घर की ओर जाते जाते रुक गई। क्यों ? उस ओर झुरमुट में महीनों के रखाये हुए दो फूलों की अकस्मात् याद से। जाने की जल्दी थी, पर फूलों से वादा कर रक्खा था, वही आज असमञ्जस का सामान हो गया। पर बालिका दौड़ गई, हार एक अपरिचित युवा को देकर दौड़ गई। एक फूल तोड़कर झोली में रक्खा था, और दूसरे के सिर पर पाँचों उँगलियाँ अर्धचन्द्र की तरह पड़ने ही वाली थीं, कि पीछे से सहेलियों ने पुकारा—ओ! वह आ रहा है। चल री, देख लोग चिल्ला रहे हैं। बाजों पर हाथ पड़ने लगा।—बालिका, हाथ में जो एक-दो पँखुरियाँ आईं, वही नोचकर भाग गई। हार तक लेना भूल गई।

यह अपरिचित युवक वही बूढा था, और वह बालिका उसी की स्त्री।"

चित्र-परिचय

सामने नदी थी, उसके पार अस्त होता हुआ सूर्य और पीछे बहुत दूर सुरमई गोधूली की छाया। चित्रकार हेमेन्द्र भागा हुआ जा रहा था। क्यों? सतरँग आकाश की शेड में भावों को जाग्रत करने, सोने और तांबे की चादर ओढ़े लहरों में प्रसुप्त अनुभूति को नवीनता प्रदान करने। वह इस दौड़ मे भी अपने को बहुत पीछे समझता था, क्योंकि उसकी कल्पना पहले ही से वहाँ पहुँच चुकी थी। उसके पैर पूरी गति से आगे बढ रहे थे कि वह एकाएक रुक गया। वह ऐसा ठहर गया, जैसे बर्स्ट हो जाने से मोटर ठहर जाती है, और रास्ते के दाहिनी ओर मकान की दीवार से सटकर सशङ्कित शिकारी की तरह खड़ा हो गया, जिसके जरा हिलने-डुलने से चिड़िया के

उड़ जाने की सम्भावना हो। उसके मुँह पर ख़ुशी का ऐसा विकाश था और उत्तेजना इतनी प्रबल हो गई थी कि वह ख़ुद अपने को न रोक सका। आख़िर मुँह से निकल ही गया—यही अच्छा है, तुम ख़ुद ही नहीं जानते कि तुम कितने सुन्दर हो! नहीं तो पैरों से रौंदी जानेवाली धूल में लोटने की कभी इच्छा न करते। सच तो यह है कि तुम्हारा अज्ञान ही संसार का सब से अमूल्य धन है।

दीवार के उस पार एक अबोध बालक किलकारियां भरता हुआ अपने खिलौने के साथ धूल में लोट रहा था। अहा! उसकी कैसी मनोहारी छवि थी! मालूम पड़ता था, मानों संसार की चिन्ता की छाया वहाँ से डरकर भाग गई हो, या विश्वव्यापी कलुप की अँधेरी रात का अन्त कर देने के लिये भगवान् अंशुमाली पृथ्वी की गोद में आ बैठे हों।

उसने बड़े यत्न से वहाँ खड़े होकर बालक की सरल चेष्टाओं को देखा। उसका अपूर्व सौकुमार्य, उसकी निर्द्वन्द चपलता का प्रत्येक उभार, कौतूहल-पूर्ण विश्व के प्रति उसका सरल मनोविकार, उसका अम्लान रूप, उसके अगों की गठन, यहाँ तक कि उसकी प्रत्येक बात को चित्रकार ने अपने स्मृति-लोक में बन्द कर लिया। प्राणायाम की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कोई महान्आत्मा

जब समाधि-मग्न होकर अनहद्-नाद सुनने में तल्लीन हो जाती है, तो उसका वाह्य-ज्ञान शून्य हो जाता है। ठीक इसी तरह वह अपनी सुध-बुध भूल गया। उसे बालक की प्रत्यक्ष मूर्ति तक का ध्यान न रहा। उसे नहीं मालूम हुआ कि कब उसकी मा आकर उसे उठा ले गई। उसके स्मृति-लोक में जिस सर्वाङ्ग सुन्दर बालक की सृष्टि हुई थी वह उसी के ध्यान में तन्मय हो रहा था, और उसी को जब, बालक की साक्षात् मूर्ति समझकर, गोद में उठा लेने के लिये व्यग्रता के साथ बढ़ा, तो दीवार से सिर टकरा गया। ध्यान की माला बिखर गई। बालक को वहां न देखकर वह अपनी दशा पर आप ही लज्जा का अनुभव करने लगा। उसने पीछे फिरकर देखा कि कोई उसकी दशा पर तरस की हँसी तो नहीं हँस रहा है। इधर-उधर दूर तक केवल सध्या का अँधेरा और भी गाढा हो गया था। वह झपटकर अपने रास्ते की ओर चल दिया।

नदी की लहरों पर अब भी हलकी लालिमा की दो-एक किरणें झलमला रही थीं। आकाश ने नीले रंग पर कुछ-कुछ सुनहले बादलों की चादर ओढ रक्खी थी। दृश्य मनोरम था, पर चित्रकार के मन में जिन स्वर्गीय कुसुमों का चयन हो रहा था, उनकी छटा ही निराली थी। उसने एक बार भी आँखों को उठाकर अपनी स्वाभाविक व्यग्रता से नहीं देखा।

हाथ से निकला हुआ राज्य फिर प्राप्त करके जितनी ख़ुशी हुमायूँ को न हुई होगी, उतनी ख़ुशी चित्रकार को हो रही थी। उसकी नसों में ख़ुशी की सरसराहट फैल गई थी। न वहाँ से उठने को इच्छा होती थी, न कुछ देखने की। जिन आँखों में उस भुवन-मोहन छवि का प्रतिबिम्ब पड़ चुका था, उनसे देखता भी और क्या? अपनी गरीबी की सारी कथा भूल गई थी। क्या ही आत्मविस्मृति थी! घर में स्त्री के अञ्चल को नोच-नोचकर बच्चे चीख रहे होंगे। थिएटर के मालिक की नाक-भौं ज़मीन-आसमान के दृष्टिकोण नाप रही होगी। परदा कोई तैयार नहीं हुआ। आजकल दर्शकों का उफान भी कम हो गया। आमदनी बढ़ाने की सूरत बिना नवीनता पैदा किए हो नहीं सकती। जीवन-समस्या उलझी हुई थी—पारिवारिक कष्ट बढ़ा हुआ था, फिर भी बेफ़िक्री की इतनी तल्लीनता और भविष्य की इतनी उज्ज्वल आशा!

बाहर चन्द्रमा का प्रकाश, कमरे में चित्रकार की तूलिका का रंग, एक भाव से फैल रहे थे, और उन्हीं के साथ उसके मानसिक विकारों की छटा बिखर रही थी। वह चित्र पर की एक-एक रेखा पर प्रसन्न होता था। अपनी अमर कला के गौरव पर उसका हृदय उछला पड़ता था। बेचारी कलावती पति की उस दशा को देखकर घबराहट

से खड़ी हो गई। बच्चों की भूख प्यास और गृहस्थी के प्रबन्ध का सारा कार्यक्रम भूल गया। उसने बढ़कर कहा—अरे! यह क्या?

चित्रकार के हाथ में चित्रपट काँप गया। उसने फिर-कर कलावती को देखा, और मुस्कराकर कहा—क्या डरा रही हो?

"मैं डरा रही हूँ या तुम?"

"मैं?"

"हाँ—अभी यह क्या कर रहे थे? भगवान जाने मेरा तो हृदय काँप गया।"

"तो आओ, अब हम उसे शांत कर दें।"

"कोई जरूरत नहीं—पर मैं कहे देती हूँ। इस तरह पागलों जैसी बातें करके दूसरों को परेशान न किया करो।"

"बहुत अच्छा सरकार, पर जिसे देखकर मैं पागल हो सकता हूँ, उसमें कुछ अभूतपूर्व विशेषता होगी। यह तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा।'

"चलो, तुम यों ही बातें करते हो। यहाँ रात-दिन चिन्ता खाए जा रही है।"

"चिन्ता काहे की?"

"घर की—बच्चों की। तुम तो बाहर रहते हो, तुम्हें

क्या पता, यहाँ तो हर समय मेरे सिर पर मूँग दली जाती है।"

'लो, देखो! परमात्मा ने चाहा, तो तुम्हारी ये सभी चिन्ताएँ सुख और आनन्द में बदल जायँगी।"—यह कह-कर उसने स्त्री के हाथों में चित्रपट रख दिया।

पति के चित्रण-चातुर्य पर कलावती की आँखें हर्ष से सजल हो गई। आज उसने अपनी हीन दशा में भी अभूतपूर्व गौरव का अनुभव किया। उसने कहा—"ऐसी सुदर और सजीव सृष्टि करनेवाला दुनियाँ की आँखों से कबतक छिपा रहेगा?"

"तुम्हारी जैसी समालोचिका पाकर भी छिपा रहूँगा, ऐसा मैं नहीं समझता।"

"समालोचना तो नहीं, अगर कहो, तो इसका चित्र-परिचय मैं ही लिख दूँ।"

"अजी ज़रूर—इसके लिये पूछने की क्या आवश्यकता।"

"इसका नाम जानते हो क्या होगा?"

"क्या?"

"साकार-शैशव?"

"भई वाह! यह तो ऊँचा हुआ नाम है।"

कलावती ने चित्र के नीचे 'साकार-शैशव' लिख दिया, और एक उसी साइज़ की कापी लेकर उसका विस्तृत परिचय लिखने बैठ गई। कमाल की कल्पना थी। हेमेन्द्र बैठा हुआ अपनी स्त्री की लेखन-प्रतिभा पर आश्चर्य और

आनंद से फूला जाता था। चित्रकला के बड़े-बडे विद्वान् और समाचार-पत्रों के सपादकों की लेखनी जहाँ पर मौन और सदिग्ध हो जाती है, वहाँ पर उछलती हुई भाषा का सजीव चित्र था, किन्तु उस सारे कौशल में सात्विक और आदर्श-जीवन की झलक के साथ-साथ एक प्रकार की गूढात्म-करुणा की छाया, लेखिका के अपने जीवन का अस्पष्ट प्रतिबिंब होकर पड रही थी। फिर भी ऐसा सुंदर चित्र-परिचय कभी देखने मे न आया था।

कलावती की कोमल उँगलियों ने लिखना समाप्त किया, और चित्रकार ने उन्हें पकड़कर चूम लिया। कलावती ने अपना हाथ खींच लिया, और कुछ कहने को थी कि नीचे से थिएटर के नौकर ने आवाज दी। सब काम बंद हो गए। दोनों विस्मृति और सौंदर्य-कला के स्वर्ग से उतरकर फिर मृत्युलोक में आ गए; चित्रकार के सामने थिएटर-हाल की गैलरी में घूमते हुए परदों का ध्यान आ गया, और कलावती को मिठाई के लिये रूठे हुए बच्चों का। उसने पति के सामने गृहस्थी की कठिनाइयों को पेश किया। चित्रकार उसका प्रबंध करने का आश्वासन देकर बाहर निकल गया। कलावती ने चित्र और परिचय, दोनों लेकर बक्स में रख दिए।

× × ×

Royal Exhibition की Picture Gallery

में "साकार-शैशव" की धूम मच रही थी। सारी नुमायश की भीड़ उसी चित्र पर उमड़ी पड़ती थी। हेमेंद्र भी जब अपनी विचित्र वेश-भूषा के साथ Picture Gallery में दाखिल हुआ, और उस कौतूहल-पूर्ण चीज़ को देखने के लिये जाने लगा, तो लोगों ने उसे बुरी तरह से धक्का देकर एक ओर कर दिया। उसका दिल दुखा ज़रूर, पर संसार के ऐसे अनेक अनुभव उसे अक्सर हो चुके थे, इसलिये वह अपनी लालसा को दबाकर चुपचाप दूसरी ओर लौट आया।

बाहर निकलकर उसने जहाँ देखा, वहाँ लोगों की ज़बान पर "साकार-शैशव" और चित्रकार 'हेमेंद्र' का ही नाम सुन पड़ता था। क्षण-भर के लिये हेमेंद्र ने समझा कि वह पागल तो नहीं हो गया है। उसने कभी कोई चित्र किसी नुमायश में नहीं भेजा था। वह फिर से एक बार पिक्चर-गैलरी में जाने को व्यग्र हो उठा।

इस बार वह ज़बरदस्ती भीड़ को चीरकर वहाँ पहुँच गया। चित्र को गौर से देखा, पहचाना और ख़ुशी से उछल पड़ा। उसे ताज्जुब तो इस बात का हुआ कि वह यहाँ आया कैसे? यह सोचते-ही-सोचते वह बढ़कर चित्र को उठाने लगा, त्यों ही पीछे से गार्ड का लंबा चाबुक उसकी पीठ पर सड से चिपक गया। वह बिल-बिलाकर चीख़ पड़ा, पर उसकी चीख़ को किसी ने सुना नहीं। एक-

दो सेकंड में भीड़ के धक्के खाकर, समुद्र की लहरों के फेन की तरह वह फिर बाहर जा पड़ा। वह अपनी .खुशी और तिरस्कृत दशा के मिश्रित भाव में उस ओर चला गया, जहाँ बहुत लोगों की अलग-अलग मंडली उस चित्र और चित्रकार की तारीफ करके अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दे रही थी।

एक पढ़ी-लिखी युवती अपने साथी युवक से कह रही थी—ओह! जिन उँगलियों के भीतर ऐसा चित्रण-चातुर्य छिपा होगा, उनके कमाल का कहना ही क्या?—वह कुछ और कहने जा रही थी, पर हेमेंद्र के आ जाने से चुप हो गई।

हँसमुख युवक ने हेमेंद्र की उपस्थिति का ख़याल न करके कहा—पर शायद उन उँगलियों को तुम्हारे होठों की मिठास की ज़रूरत न होगी।

"बस, तुम्हें इसके सिवा कुछ और भी आता है? कभी किसी की तारीफ़ भी करते हो?"

"तारीफ़ करने के लिये एक आदमी काफ़ी है। तारीफ़ करनेवालों की तारीफ़ के लिये भी तो किसी को रहना चाहिए?"

"क्या .खूब!"

".खुश हुई न?"

"नहीं—आज तो मैं तभी .खुश हूँगी, जब जाकर उस चित्रकार और चित्र-परिचय लिखनेवाली महिला से मिलूँगी।"

"तो क्या मैं समझ लूँ कि चिड़िया उड़ गई?"

"हाँ-हाँ, चाहे जो समझ लेना। मैं तो—"हेमेंद्र बीच ही में बोल उठा—"अजी, वहाँ जाकर क्या करेंगी। वह अभागा तो कहीं ग़ायब हो गया है।"

युवक—"आप उसे जानते हैं?"

हेमेंद्र—".खूब।"

युवती—"कब लौटेगा?"

हेमेंद्र—"यही, दो-तीन रोज़ में।"

युवक—"आप आ गए, नहीं तो अभी—"

युवती ने युवक को हाथ के इशारे से चुप कर दिया। हेमेंद्र वहाँ से लौट पड़ा। तारीफ की उन्मादिनी मदिरा पीने से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे। घर पहुँचते-पहुँचते मन मे यही एक ग्लानि रह गई कि युवती के सामने अपने-आपको प्रकट करके क्यों न गौरव-पूर्ण तारीफ़ के सुन्दर शब्दों से कानों को सार्थक कर लिया।

× × ×

'साकार शैशव' पर नुमायश में पहला इनाम मिला।

यह पढकर कलावती का हृदय .खुशी से उछल पड़ा। उसकी मुरझाई हुई आत्मा वसंत की नवीन लता की तरह खिल उठी। कागज़ को एक बार फिर खोलकर पढ़ा। अहा! कैसे सुन्दर सजीव सोने की स्याही से लिखे हुए ये अक्षर मालूम पड़ते थे!

हेमेंद्र सोकर कमरे से निकला। कलावती ने लिफ़ाफ़ा तो पाकेट में छिपा लिया, पर होठों के भीतर आवश्यकता से अधिक भरी हुई .खुशी की स्वच्छ मुस्कराहट न छिप सकी।

हेमेंद्र ने कहा—ऐसी क़ीमती चीज़ छिपे-छिपे क्यों लुटाए देती हो कला?—कलावती ने हँस दिया। कुछ जवाब नहीं दिया।

"वन में मोर नाचा—व्यर्थ। यही हँसी किसी गुणी की नज़र में पड़ जाती तो—"

"बस-बस, रहने दो। बहुत-सी बातों की मुझे .फ़ुरसत नहीं है। मैं काम से जा रही हूँ।"

"क्या काम?"—कहकर हेमेंद्र ने उसका हाथ पकड़ लिया।

"चलो देख न लेना। हरएक बात की कहानी कौन कहे।"

"हाँ, तो अब इसी तरह रूठी रहोगी। बात करने की भी .फ़ुरसत न निकाल सकोगी?"

"नहीं।"

"खूब, आप ही गल्ती करें और आप ही दंड की व्यवस्था। यह तो असहनीय अत्याचार है कला।"

"असहनीय ?"

"हाँ"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुमने विना पूछे तस्वीर भेजी ही क्यों थी ? कहीं नष्ट-भ्रष्ट हो जाय—खो जाय ?"

कला ने हल्की हँसी छिपाकर उत्तर दिया—"अपनी चीज़ के लिये कोई पूछने की ज़रूरत नहीं समझता। फिर मैं ही क्यों ऐसा करती ?"

"अच्छा"

"और अगर एक तस्वीर खो भी जाय, तो कौन बड़ी वात है ? फिर भी तो वन सकती है।"

हेमेंद्र उत्तेजित होकर कुछ कहना चाहता था, पर कला की खिलखिलाहट से कुछ दव गया और उसके मुँह की ओर किंचित् आश्चर्य से देखने लगा।

कला ने कहा—"वात मानो, वह खो नहीं सकती।"

"तभी मानूँगा, जव मेरे हाथ में आ जाए।"

इसी समय वालक ने आकर कहा—बाहर वावू को कई लोग वुलाते हैं।

कलावती सव वातें समझ गई। उसने पहले अपने

ही मुँह से पति को सुन्दर समाचार सुनाने का संयोग जाने न देना चाहा। उसने हँसकर झटपट लिफ़ाफ़ा निकाला, और पति को पुकारकर देना चाहती थी, पर वह तुरत लौटने को कहता हुआ चला ही गया।

बाहर कई बड़े घर की स्त्रियां और पुरुष मौजूद थे। पहले तो उन्होंने हेम को पागल से अधिक कुछ नहीं समझा, पर बातचीत होने पर सबने बड़े आदर और कौतूहल से उससे हाथ मिलाए। उनमें सभी ने उसकी चित्रकला की बड़ी तारीफ़ की, और उसके दर्शन पाकर अपने को धन्य माना। हेम ख़ुद ही हक्का-बक्का हो गया। ऐसे बड़े-बड़े आदमियों ने उसकी तारीफ़ की। जिन सुन्दरियों की सुन्दरता के लिये लोग सर्वनियता की रचना पर मुग्ध हो जाते हैं, वे भी हेम के चित्र की तारीफ़ में अपनी पतली ज़बान और कोमल होंठ हिलाते नहीं थकीं।

कलावती की इच्छा पूरी न हुई। हेम को सब समाचार बाहर ही मालूम हो गया। वे लोग उसे अपने यहाँ ले जाने के लिये अनुरोध करने लगे। हेमेन्द्र भी इनकार करना नहीं चाहता था, फिर भी इस समय उसने असमर्थता जताकर किसी और समय मिलने का वचन देकर अपने गौरव को प्रदर्शित किया।

वे लोग चलते-चलते अनुरोध कर गये कि उसके लिये

ठीक समय पर गाड़ी आ जायगी। मारे ख़ुशी के उसका कलेजा मुंह को आ गया।

कलावती मन-ही-मन पछताकर बार-बार पत्र को पढ़ रही थी कि हेम ने चुपचाप आकर उसे सहास्य आलिंगन करके कहा—मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी चतुर हो?—सचमुच तुम्हारी जीत हुई।

क्यों—क्या हुआ?—कहकर कला मुस्कराने लगी!

आख़िर अब तुम बड़े आदमी की स्त्री हो ही गई। मामूली चित्रकार की स्त्री कहलाना तुम्हें पसन्द नहीं था—क्यों न?—तभी इतना छिपाकर यह सब प्रपञ्च रच डाला।

कला रत्ती-रत्ती समझ गई, पर ज़रा बनकर बोली—क्या वाहियात बेलगाम बातें कर बैठते हो। मैं कुछ नहीं समझती, साफ़-साफ़ कहना हो तो कहो।

हेमेन्द्र—अजी, कह तो दिया कि अब तुम एक धनवान् और लोक-प्रसिद्ध आदमी की स्त्री बन गईं।

"उँहुँ।"

"नहीं समझीं—तुम्हारे 'साकार शैशव' पर पच्चीस हज़ार का इनाम मिला।—और, और चित्रशाला प्रेस की प्रोप्राइट्रेस आकर तय कर गई हैं। उनके यहाँ तीन सौ रुपया मासिक की नौकरी मिल गई है। कल Agreement हो जायगा।"

पिछली बातों से कला और भी खुशी के भार से झुक गई। उसके गले से उस समय कोई बात नहीं निकली। कुछ ठहरकर उसने पूछा—सच कहो।

"बिलकुल सच कहता हूँ, कला!"

"तुम्हीं देखो—अच्छा, अब तो मुझसे बुरी तरह नाराज़ न होगे?"

हेम ने चुंबन को बीच का साक्षी बनाकर कहा—"नहीं, कभी नहीं।"

कला ने हाथ का पत्र खोलकर हेम की गोद में रख दिया। दोनों गद्गद् हो गए।

अब हेमेंद्र राज-सम्मानित चित्रकार है। 'साकार शैशव' के बाद से उसकी मान-प्रतिष्ठा चंद्रमा की किरणों की तरह सर्वत्र व्याप्त हो गई है। धन-सपत्ति की कमी नहीं रही है। यही नहीं, चित्र का परिचय लिखकर कलावती भी योग्य पति की उपयुक्त अर्धांगिनी हो गई है। अब उसे घर के छोटे-मोटे कामों में अपनी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। चित्रकला में अभिरुचि होने के कारण वह अधिकतर चित्रशाला में ही रहती है।

एक दिन वह कुरसी पर पड़ी कुछ सोच रही थी। शायद किसी सुदर चित्र की कल्पना कर रही होगी। दो चित्र हाथ में लिए हुए हेमेंद्र बाहर का दरवाजा खोलकर

उसके पास आ गया। आते ही उसने बड़े ऊँचे स्वर में पुकारकर कहा—कला!

कलावती—क्यों, मैं तो जाग रही हूँ—सोई नहीं।

हेमेंद्र—बस, आज से हमारा काम खतम हो गया।

कलावती बात को बिलकुल न समझकर घबडाहट के स्वर में बोली—कहो भी तो क्या बात है?

हेमेंद्र ने दोनों चित्र कलावती को देते हुए कहा—चित्रकला से जो बड़े-से-बड़ा उद्देश सिद्ध हो सकता है, वह सब हो चुका। हम लोगों ने जिसकी कभी आशा नहीं की थी, वह हमें मिल गया। फिर और क्या चाहिए। देखो, यह नीचेवाला चित्र देखो। इसकी बदौलत हमें जो कुछ मिला है, वह ससार में किसी चित्रकार को नहीं मिला।

कलावती ने देखा, ऊपर वही चिर-परिचित 'साकार शैशव' था। उसे देखकर एक बार फिर नवीन रूप से कला के स्मृति-लोक में गत जीवन का सुखमय चित्र अंकित हो गया। पर उसे उठाकर ज्यों ही उसने नीचे का चित्र देखा, तो एक बार उसका सारा शरीर आँधी से झकझोरी हुई लता की तरह काँप उठा। वैसा कठोर और अमानुषिक चित्र उसने पहले कभी न देखा था! उसकी स्त्री-सुलभ आँखें चित्र की भयंकरता को न सह सकीं। उसने डर से

उन्हें बंद कर लिया। वह चिल्लाकर हेमेंद्र से बोली—ले जाओ, ऐसे चित्र को देखने की इच्छा मुझे नहीं है। ओह भगवान्! जिसे देखते डर लगता है, ऐसे चित्र को बनाया किसने है?

हेमेंद्र ने हँसकर चित्र कलावती के हाथ से ले लिया, और कहा—जिसे पहली बार देखकर तुमने इस उपेक्षा से वापस कर दिया है यदि उसकी पूरी कथा सुनो, तो निश्चय है कि तुम उसे वहुत ही पसंद करने लगोगी।

कला—नहीं, ऐसे चित्र को मैं कभी पसंद न करूँगी। मेरा हृदय ऐसा कठिन नहीं है।

हेमेंद्र—तुम्हारा हृदय नितांत कोमल और भावुक है। बस, इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुम उसे सहानुभूति की दृष्टि से देखोगी—मैं जानता हूँ कला, तुम उतनी अमानुषी नहीं हो।

कलावती ने हेमेंद्र की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप उसकी बातों को सुनती रही।

थोड़ी देर ठहरकर हेमेंद्र फिर बोला—अच्छा सुनो, ऐसे चित्र की तलाश में मैं बरसों से था। मैंने कल्पना के आधार पर अनेकों बनाए भी, पर किसी में ऐसा स्पष्ट चित्रण नहीं बन पड़ा। कल्पना दौड़ते-दौड़ते एक हद पर जाकर रुक जाती थी। विश्व की मूर्तिमान् अमानुषिकता

का सजीव चित्र न मैंने कहीं देखा, न अब तक मैं स्वयं ही बना सका। तुम जानती हो अनेक बार दूर-दूर राज्यों के कारागारों का निरीक्षण क्या मैं यों ही करता फिरता था? उसका उद्देश्य केवल यही था—बहुत दिनों बाद एक महाविकराल, यमराज की तरह भयावनी मूर्ति मुझे मिली। बिना काफी उद्दीपन-सामग्री हुए भावों और लेखनी में धारावाहिनी शक्ति नहीं आती। उस मनुष्य को देखते ही मैं उसका चित्र बनाने लगा। अनेक वर्षों की सञ्चित की हुई कल्पना के साथ वास्तविकता ने मिलकर मिनटों में यह चित्र तैयार करा दिया। इतनी जल्दी ऐसा सुंदर चित्र बन जाने की मुझे कभी आशा न थी—इसी से मारे ख़ुशी के मुझे बेअख्तियार हँसी आ गई। मुझे हँसते हुए देखकर उसने उपेक्षा के भाव से सिर हिला कर पूछा—क्यों, क्या बात है?

उस एकांत स्थान में उसके भीम-स्वर को सुनकर एक बार मेरा हृदय दहल गया। उसने फिर तुरंत ही पूछा—क्या कुछ गहरी रक़म हाथ लगी है? इतना हँसते क्यों हो?

उस समय मेरे पास और कोई उपाय नहीं था। चित्र उसके सामने रखना ही पड़ा, पर इस खयाल से कि कहीं वह नाराज़ होकर मेरे ऊपर कुछ दे न मारे, मैंने साथ मे 'साकार-शैशव' भी रख दिया। उसने एक बार इस चित्र को गौर से देखा, फिर अपने शरीर को मरोड़कर

कहा—ओह ! तो मैं क्या ऐसा ही दिखता हूँ ?—मैं उसकी लाल-लाल आँखों और क्रोध के चढ़ाव-उतार के भावों को देखकर अपनी कुशल की प्रार्थना कर रहा था। थोड़ी देर में वह दूसरा चित्र भी बड़े गौर से देखने लगा। इस बार उसके मनोविकारों मे जो परिवतन हो रहा था, उसे देखकर तो मैं कुछ भी निश्चय ही न कर सका। देखते ही देखते वह आदमी एक नन्हें से बालक की तरह परिताप से बिलख-बिलखकर रोने लगा। उसने मेरे पैरो पर अपना माथा रखकर बड़े करुण स्वर में कहा—बाबा, मैंने तो सब कुछ खो दिया। हाय ! अब मैं क्या करूँ। एक दिन जो अमूल्य खज़ाना मेरे पास था, उसे मैंने मृग-तृष्णा के लोभ में पड़कर गँवा दिया।

उसके अनुतप्त हृदय की वेदना-विहित पुकार से मेरा हृदय पानी-पानी हो गया। मैंने उसके भींगे हुए चेहरे को अपनी गोद में रखकर कहा—कहो तो क्या हुआ ? ऐसी कौन-सी बात हो गई है, जो लौटाई नहीं जा सकती ?

उसने अपने मस्तक को मेरी गोद मे अलग उठाकर कहा—बाबा मैं, महापातकी हूँ। मैंने अपना अनत धन लुटाकर थोडे-से खून में भींगे हुए हीरे-मोती इकट्ठे किए हैं। मैं नितात हीन और अस्पृश्य हूँ। पहले चित्र में जो कुछ अकित है, वह सब मेरे पास था पर हाय ! ससार के वैभव से भी परम पुनीत वह सरलता खोकर आज मैंने

क्या बटोर रक्खा है? तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं, पर क्या अब वह दिन लौटाया जा सकता है?—नहीं, मैं रौरव का कीड़ा हूँ। अब इस जीवन में मेरा उद्धार कहाँ?

यह सब सुनकर मेरा शरीर आनन्द और गौरव से अवसन्न हो गया। मैंने उसका मुँह फिर अपनी गोद में रखकर बड़े प्यार से उसे ढाढ़स दिया—अरे, यह क्या कहते हो। तुम्हारा पश्चात्ताप फिर से तुम्हें तुम्हारी संपत्ति दिला सकता है। उठो तो सही, देखो—तुम्हें तो सध्या होने से पहले ही अपनी भूल का पता लग गया है।

उसने उसी समय उठकर मेरे चरणों की धूल को सिर पर लगाया, और प्रतिज्ञा की कि आज से वह अब कोई भी दुष्कर्म न करेगा—सुनता हूँ, उसका जीवन बदलकर एक पवित्र और सरल बालक-सा हो गया है। जानती हो, वह कौन है?—वही प्रसिद्ध डाकू सुहराब।

कलावती ने अकचकाकर पूछा—ऐं! यह क्या सच कहते हो?

हेमेंद्र—हाँ, बिलकुल सच। भला, इससे बड़ा खजाना और हमें अब क्या मिल सकता है—मैं समझता हूँ, अब इस चित्र का भी परिचय लिखना तुम पसद करोगी।

कला—इसका तो अमर परिचय तुम्हीं ने सुना दिया है। अब मुझे लिखने की जरूरत नहीं! पर हाँ, लाओ, अब मैं एक बार उस चित्र को गौर से देखूँगी।

नलिनो

[१]

नलिनीप्रभा वंगीय रङ्गमञ्चकी प्रधान एक्ट्रेस थी। उसके लिये प्राच्य और पाश्चात्य सभी पात्रोंका अभिनय सफलतापूर्वक करना एक साधारण बात-थी। उसने शेक्सपियर के ड्रामोंमे बा-कमाल नाम पैदा किया था। शॉ और इब्सन के अभिनय में वह अपना सानी नहीं रखती थी। जापान में जब उसने जापानी नाटकों का अभिनय किया, तब टोकियों में इतने मेडेल एनाउन्स किये गये कि उनका परिचय देने में पत्रों को कालम-के-कालम रंगने पड़े। यह खबर जब रूटर के द्वारा कलकत्ते में आई, तब भारतीय पत्रों में भी उसकी लम्बी-चौड़ी समालोचना होने लगी। एक दिलजले ने अपना पुराना एलबम निकाल कर तेरह चित्रों में कालिदास की शकुन्तला का अभिनय

करते हुए नलिनी को दिखलाया। यह अभिनय तीन बरस पहले किया गया था। उस समय नलिनी का चौदहवां साल शुरू हो रहा था।

शोहरत के इसी अय्याम में नलिनी ने केलीफोर्नियाँ की यात्रा की। जिस स्थान में Marry Pickford, Charlie Chaplin और Douglas Fairbanks संसार में हलचल मचा देनेवाले फिल्म तय्यार करते हैं, वहाँ नलिनी के आने की धूम मच गई। जगह जगह पोस्टर्स और बड़े-बड़े इश्तहार चिपक रहे थे। Morning और Evening सभी पत्रोंमें अभिनय का प्रोग्राम छप रहा था।

× × ×

थियेटर-हालकी गैलरी में तिल रखने को जगह नहीं थी। उस अपार जनसमुदाय का प्रत्येक व्यक्ति कौतूहल पूर्ण नेत्रोंसे अभिनेत्री नलिनी की बाट देख रहा था। तालियों की करतलध्वनि में एक टेलीग्राम हाथमें लिये हुए जब नलिनी ने उपस्थित जनता से क्षमा मांगी, तो हाल-भरमें गम्भीर रात्रि सा सन्नाटा छा गया। वह टेलिग्राम नलिनी के घर से आया था। उसमें उसके एकमात्र भाई की मृत्यु का समाचार था।

दूसरे दिन सबेरे छूटनेवाले मेलसे विषाद-मलिन नलिनी चलने को तैय्यार हो गई। जब वह जा रही थी,

तो एक भारतीय युवक ने समवेदना के स्वर में उससे कहा—"हमारा दुर्भाग्य है कि आपको इतनी जल्दी यहां से जाना पडा। आपका यह दु:ख भूलनेवाला नहीं। ईश्वर आपके भाई की आत्मा को शान्ति दे।"

नलिनी ने बहुत धीरेसे जवाब दिया—"कौन जानता है, उसने क्या समझकर ऐसा किया। आपकी इस कृपा के लिये मैं सदा कृतज्ञ रहूगी।"

फिर नलिनी ने उससे हाथ मिलाया और जाकर केबिन में अपना मुँह छिपा लिया, पर वह युवक अपना रूमाल हाथ में लिये हुए तब तक खड़ा रहा, जब तक जहाज नजरों के बाहर नहीं हो गया। युवक का नाम ताराचन्द था।

जैसे-जैसे कलकत्ता नजदीक आ रहा था, नलिनी का शोकावेग बढ़ता जाता था। यात्रा के थोड़े से दिनोंमें उसका सारा सौन्दर्य, सारी शोभा न जाने कहां विलीन हो गई थी। लेकिन जब उसने पास ही दूसरे स्टीमर में विपिन को देखा, तो वह आश्चर्य से पागल हो गई। जिसकी मृत्यु के लिये शोक-सताप और सूतक-संस्कार करती हुई, निराश और विषाद-मग्न वह आ रही थी, उसी भाई ने जब उसका हाथ पकड़, सब रहस्य हँस-हँसकर समझा दिया, तो नलिनी का मन उल्लास से विकसित हो

उठा—पर भाई के ऊपर भावी संकट की आशंका का विचार करके वह चिन्तित भी कम न हुई।

[२]

नलिनीका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था, लेकिन उसकी माँ बड़ी रूपवती और सम्पन्न घराने की थी। इसीलिये पिता को ससुराल से काफ़ी धन मिला था, पर वह उन्हे फला नहीं। रुपया हाथ मे आते ही उन्हें अनेक दुर्व्यसन लग गये। जब उनकी मृत्यु हुई, तो नलिनी की माँ एक दम निराश्रय हो चुकी थी। उनके मायके में भी कोई नहीं रह गया था। इसके बाद जो भी दिन आया वह उन्हे दरिद्रता और दुःखकी ओर घसीटता ले गया। जब उन्होंने नौ बरसकी नलिनी और पाँच बरस के विपिनको छोड़ा था, तब उनके पास दो आँसुओं के सिवा और कुछ न था, और वे ही दो आँसू अपने प्यारे बच्चों की गोद में गिराकर, उन्होंने सदा के लिये आँखें बन्द कर ली थीं, पर उसी दिन से अबोध, अज्ञान, बेचारी नलिनी की आंखें खुल गईं। उसे किसी-न-किसी तरह भाई की रक्षा का विधान करना पड़ा। अनेक कष्टों को झेलकर नलिनी ने विपिन का लालन-पालन किया। जब विपिन कुछ-कुछ बड़ा होने लगा, तो उसकी इच्छाएं और आकांक्षाएँ भी बढ़ने लगीं, पर उनके भार को सहनकरने लायक कोई युक्ति नलिनी के पास न थी। आख़िर उसने एक दिन घर

से निकलकर अपना सर्वस्व भाई के लिये उत्सर्ग कर दिया, और जाकर ए वेश्या के यहां नौकरी कर ली। वहीं से धीरे-धीरे उसने स्टेजपर प्रवेश किया।

यही कारण था कि विपिनको हर तरह की सहायता करते हुए भी उसने किसी को यह जाहिर नहीं होने दिया था कि वह उसकी बहन है। बाद को नलिनी ने इतना धन कमाया कि विपिन को रुपये पैसेकी कमी न रही और वह बराबर पढता हुआ बी० ए० में पहुँच गया। जब उसने नलिनी को अपनी मृत्यु का झूठा तार भेजकर बुलाया था, तो वह बी० ए० में प्रथम श्रेणी मे पास हो चुका था, उसकी शादी के पैगाम आने लगे थे और एक बडे आदमी की लड़की से बात-चीत भी हो गई थी। विपिन जानता था कि वैसे नलिनी कभी नहीं आयगी, क्योंकि वह विपिन की बहन बनकर उसे समाज के सामने नीचा नहीं बनाना चाहती थी।

लोगों को भी कभी इस बात का सन्देह नहीं हुआ था, नहीं तो विपिन के तार को, जो अनेक पत्रों में छपा था, कोई-न-कोई अवश्य झूठ साबित कर देता और नलिनी को चिन्ता करने का अवसर ही न आता।

नलिनी ने विपिन को बहुत समझाया, पर उसने एक न सुनी। आखिर भाई के हठके सामने उसे अपना निश्चय त्यागना पडा। विपिन और नलिनी का सम्बन्ध तथा तार की असारता का मनोरंजक वर्णन लोगों ने बड़ी दिलचस्पी

से पढ़ा। पर जब चढ़े हुए तिलक का ख़्याल न करके लड़की के पिता ने दूसरी जगह लड़की का व्याह तय कर दिया, तब विपिन को मालूम हो गया कि समाज का शासन उसके वैभव और उसकी योग्यता की तनिक भी परवाह नहीं करता। उसे दुःख हुआ और घृणा भी, पर वह डिगा नहीं। अपनी प्यारी बहन को आदर और पूजा की सामग्री समझकर वैसा ही अविचलित बना रहा।

[३]

ताराचन्द को नलिनी का रूप-लावण्य बहुत समय तक नहीं भूला। वह जब-तब यही विचार करने लगता था कि क्या उसका हृदय भी वैसा ही सुन्दर हो सकता है?— लेकिन तुरन्त ही कहता कि अगर हो भी तो उसे क्या।

बात यह थी कि ताराचन्द एक निर्वासित देशभक्त युवक था। उसने आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प किये था। एम० ए० पास करके वह स्वीट्ज़रलैण्ड, जर्मनी, रूस आदि होता हुआ अमेरिका पहुँचा था। वहीं उसने नलिनी को देखा था। उसे मातृभूमि में आने की इजाज़त नहीं मिलती थी। भीतरी कारण कुछ भी हो, पर वैसे तो विभिन्न देशों की शासन-पद्धति की सुचारु गति-विधिका पर्यवेक्षण करके उसने कई आर्टिकिल लिखे थे। उनमें भारतीय शासन का मिलान कर, प्रत्येक दृष्टिकोण से, उसका अन्तर स्पष्ट किया गया था। कई महीने तक उसके

उन लेखों पर अनेक टीका-टिप्पणी देशी तथा विलायती पत्रों में छपती रहीं। लोगों का विश्वास था कि इन्हीं कारणों से सरकार उसे ख़तरनाक समझती है।

जिस समय अमेरिका में नलिनी के भाई की मृत्यु का तार मिला था, उसी दिन ताराचन्द को उसकी बहन की शादी का समाचार मिला था। उसे उस आनन्द के के साथ ही विषाद भी कम न हुआ था, उसी को भुलाने के उद्देश्य से वह थियेटर में चला गया था। क्योंकि वह दुर्भाग्य से बहन की शादी में भी शामिल नहीं हो सकता था। उसी दुख के उद्रेक में उसने नलिनी का शोक-समाचार सुना था। इसीलिये वह अपने समवेदना के भाव को दूसरे दिन नलिनी पर प्रकट किये बिना न रह सका था।

× × ×

मालूम नहीं किसके सौभाग्य का तारा उदय हुआ, जिससे थोड़े दिनों बाद ही ताराचन्द को भारत आने की अनुमति मिल गई। इस समय वह नीलिनी को सम्भवतः भूल चुका था। घर आने की जैसी ख़ुशी उसे हो रही थी, वह लेखनी से कहने की बात नहीं है। जो जीवन-भरके लिये निराश हो चुका हो, वही इसका अच्छी तरह अनुभव कर सकता है। पर उसकी इस ख़ुशी में भी एक बात रह-रहकर खटकती थी कि चार महीने पहले यदि आज्ञा मिल जाती, तो प्रतिमा की शादी भी देख लेता। किन्तु

जब वह मकान पहुँचा तो उसकी बहन की बरात चढ़ रही थी। यह देख कर मारे ख़ुशी के उसका हृदय उछलने लगा। उसके पहुँच जाने से तमाम घर और परिवार में भी रौनक़ और ख़ुशी की एक नई लहर आ गई।

शादी की धूमधाम के बाद उसने पिता से कहा—"मैं समझता था कि प्रतिमा की शादी हो चुकी होगी, क्योंकि आपने तो बहुत पहले की तारीख़ दी थी ?"

पिता ने उसे बतलाया कि किस तरह भाग्य से मामला सध गया और सम्बन्ध होने से पहले ही विपिन के कुल-कलंक का हाल मालूम हो गया, नहीं तो बात-की-बात में परम्परागत कुलीनता का गौरव धूल में मिल गया होता। उस समय बेचारी प्रतिमा की क्या दशा होती ? वह सुनहली कली उस वेश्या के भाई की वधू बनती ! ओह ! छिः छि !!

ताराचन्द की आंखों के सामने नलिनी की पुरानी स्मृति फिर ताज़ी हो गई। पिता के विचारों पर उसे बड़ा दुख हुआ। उसने अपनी गर्दन झुका ली। उसे ऐसा मालूम पड़ा कि नलिनी सामने खड़ी उससे शिकायत करके उसे लज्जित कर रही है। उसे पिता से यह भी मालूम हुआ कि विपिन अपनी बहन के साथ गाँव में रहता है। उसने पिता का विरोध करते हुए कहा—"जो हो गया वह लौटाया नहीं जा सकता, लेकिन जो बस में है, उसे करके मैं अवश्य उस पाप का प्रायश्चित कर डालूँगा।"

उसी दिन ताराचन्द ने जाकर विपिन से कहा—"भाई, मैं उस दुर्व्यवहार की क्षमा मागता हूँ और जो पाप हो गया है उसका मैं प्रायश्चित करूँगा। क्या तुम मेरी सहायता करोगे? वेश्या कहकर जिस नलिनी का अपमान किया गया है—मैं उसे देवी के आसन पर आसीन करूँगा। आशा है, तुम मुझे तुरन्त स्वीकृति दोगे।"

नलिनी पास ही बैठी हुई यह बातें सुनकर नववधू की भाति लजा रही थी कि ताराचन्द ने घूमकर कहा—"नलिनी! तुम तो मुझे पहचानती हो। तुम्हारी केलीफोर्नियांवाली-मुलाकात मुझे आजीवन याद रहेगी। कहो, मैंने जो कुछ भाई विपिन से कहा, उसमें तुम्हारी क्या राय है? लजाओ नहीं, याद रक्खो, मैं इस मामले में तुम्हारा एक भी बहाना न सुनूँगा।"

विपिन ने स्वीकार कर लिया, पर नलिनी भाई को अकेला छोडने में अपनी असमर्थता जताती रही। ताराचन्द ने अपने एक मित्र की बालविधवा बहन से विपिन का ब्याह तय करके उसके उस बहाने को भी निर्मूल कर दिया। तब वह लाचार होगई। सात दिन के भीतर दोनों विवाह ठीक कर दिये गये। ताराचन्द के पिता बहुत रूठ गये थे, पर प्रतिमा अपने भाई के ब्याह में आकर अच्छी तरह शामिल हुई—सब से मजे की बात तो यह थी कि विपिन की नई दुलहिन का नाम भी 'प्रतिमा' ही था।

नववधू

वसन्त-पञ्चमी की लग्न थी, पर श्यामा ने द्वितीया से ही एकान्तवास कर लिया। उसे खाना-पीना, हँसना-बोलना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वह दिन-रात सबसे भीतरवाली अँधेरी कोठरी मे कभी बिस्तर पर, कभी पृथ्वी ही पर बैठी हुई न जाने कितनी बातें सोचती रहती थी। उसकी सहेलियाँ जब तब आ-आकर उसे खिझाती और समझातीं थीं। वह चुपचाप उनकी बातें सुन लेती थी।

श्यामा अपनी ससुराल का चित्रपट पहले भी अनेक बार कल्पना के आधार पर खींच चुकी थी। अपनी सहेलियो के मुँह से सुन-सुनाकर कई बार ऐसी भावनाएँ उसके हृदय में उठी थीं, लेकिन वे भावनाएँ और वे कल्प-

नाएँ तरङ्गिणी की लहर की तरह या सन्ध्या के लाल-पीले-हरे बादलों की तरह क्षण भर में अन्तर्हित हो जाती थीं, उनमें श्यामा का कौतूहल ही अधिक होता था। उसने कभी भी निश्चयपूर्वक यह नहीं समझा था कि वह दिन सचमुच ही आ जायगा, जब उसे अपने भाई-बहनो को, प्यारी माता को, पिता को, चाचा-चाची को और पास-पड़ोस के सब बड़े-छोटों को छोड़कर दूर एक अपरिचित परिवार में अनायास जाना ही पड़ेगा। आज तीन-चार दिन से उसका वह विचार परिवर्तित हो गया था। उसके हृदय मे, मन में, यह बात भली-भांति बैठ गई थी, किवह अब चली, तब चली। चलने के अतिरिक्त उसे दूसरा विचार ही न आता था। वह चार दिन बाद लौट भी आयगी, यह उसके अधीर हृदय में किसी तरह समाता ही न था। उस अँधेरी कोठरी के एकान्त कोने में बैठकर श्यामा ने अपने अतीत जीवन को कई बार स्मरण किया। दो दिन बाद उसका ससार बदल जायगा। ये छोटे-छोटे भाई कहाँ मिलेंगे। स्वतन्त्रता का जीवन अब उसे छोड़े जा रहा है। रात-दिन घूँघट के भीतर, परदे की ओट में, रहना पड़ेगा। जब उसे दीदी की जगह भाभी कह-कह-कर देवर पुकारेंगे, तब वह किस तरह जवाब देगी? स्व-भाव के अनुसार कहीं जोर से कोई बात मुँह से निकल गई तो उसकी हँसी होगी। वह खाना बहुत अच्छा बनाती

है। उसके ससुर जब उसकी तारीफ़ करने लगेंगे तब वह भला लाज से पृथ्वी में न गड़ जायगी? वह बड़ी लज्जा-शीला है, पति से बात करने का साहस तो उसे जन्म भर न हो सकेगा।

रोते-सिसकते श्यामा के वे दिन पहाड़ होकर कटे। घर-परिवार छूटने का मानसिक क्लेश इतना व्यापक और विस्तृत होकर छा गया कि हर समय विकसित कली की तरह प्रफुल्लित रहनेवाली श्यामा मोह ममत्व की प्रतिमा हो गई। मालूम पड़ता था कुल-वधूत्व के, आदर्श-गृहिणी के एवं स्नेहशीला माता की भावनाओं के संस्कार की छाया उसी दिन से उसके हृदय पर एक साथ पड़ने लगी। आपसे आप उसका हृदय अपने सभी आत्मीयों को हृदय से लगा लेने के लिए व्याकुल हो पड़ा। पड़ोस की कई लड़कियों से श्यामा की कोई बात नहीं पटती थी, इस पर उससे दो-एक से लड़ाई भी हो चुकी थी। बोलना तक बन्द था। श्यामा ने अपने स्वभाव के अनुसार कभी उनसे बात करने का विचार तक न किया था। इसे वह अपना अपमान समझती थी। आज वे सभी बातें, सारे मनोविकार सङ्ग्राम-भूमि से कायर की भाँति अदृश्य हो गये थे। उसका हृदय आज अपने स्वाभाविक स्थान को छोड़कर बाहर निकला पड़ता था। आज वह उन सबको किसी प्रकार यह बतला देना चाहती-थी कि वह वास्तव में उन्हें

कितना प्यार करती है। मुह से न बोलकर भी, उन्हें छोडते हुए उसे कितनी वेदना, कितना क्लेश और कितना सन्ताप है। कम से कम जहाँ वह जन्मी और इतनी बडी हुई वहाँ तो उसे असद्भावना से स्मरण करनेवाला कोई न हो। वह जा रही है, विवश होकर जा रही है। सांसारिक और सामाजिक प्रथा के अनुसार जा रही है, किन्तु वह सबकी मङ्गल-कामना करती है और सदा करती रहेगी।

अनुरञ्जित अतीत की स्मृति के साथ-साथ वह भविष्य का ही सकरुण भाव-व्यंजक चित्र-पट नहीं तैयार कर रही थी। उसके एक ओर के दृश्य तमसाच्छन्न, वेदनाविहित और दयार्द्र अवश्य थे लेकिन दूसरी ओर आशा और अभिलाषा की रङ्ग-शाला में नई-नई भावनायें अपना अभिनय प्रारम्भ करने जा रही थीं। वह अपने सुकुमार भावों के स्वर्गीय प्रभात में चक्रवाकी बनकर प्रवेश करना चाहती थी। कैसी सुन्दर चाह थी, कैसी मनोज्ञ प्रतीक्षा और आकुल उत्कण्ठा!

उसे ससुराल जाने की इच्छा थी, और सास से आशीर्वाद लेने का चाव। ननद और देवर के अलौकिक व्यवहार को भी वह अमूल्य और अहोभाग्य की सम्पत्ति समझती थी।

सँङ्कल्प-विकल्प की इस स्थिति ने श्यामा की विचित्र दशा कर दी थी। विचारों के इसी तुमुल सङ्घर्ष में, कल्प-

नाओं के इसी लीला-क्षेत्र में बारात आगई। दूर से बाजों और आतिशबाज़ी के धूम-धड़ाके से श्यामा का हृदय धडकने लगा, माथे पर मोतियों के दानों की तरह पसीने की बूँदे झलमलाने लगीं। उसके विचारों का तार टूट गया, कल्पना की माला बिखर गई। हृदय में रह गई केवल एक उत्सुकता—बारात के लिए नहीं किन्तु अपने जीवन के साथी की एक झलक पाने के लिए। सुकुमार और परिमित सुख-स्वप्न को आँखों में छिपाये हुए उसे बाहर निकलना पडा। सहेलियों के साथ जब वह द्वार की ओर चली तब उसके मुख पर अश्रुतपूर्व लज्जा-सङ्कोच और उत्सुकता की मिश्रित छाया थी और आंखों में था सलज्ज कौतूहल।

पाणिग्रहण के समय उसका हाथ काँप रहा था। शरीर पसीना-पसीना हो रहा था और माता-पिता के आँसुओं के साथ हृदय उमड़कर मंडप के नीचे गिरा पड़ता था। लेकिन बहुत अच्छी तरह सब काम हो गये। भाँवरें पड़ गईं, पाणि ग्रहण हो गया, श्यामा कंधों का बोझ हलका करके फिर अपनी अन्धकारमयी गुफा में चली गई।

श्यामा पहले सुना करती थी कि अमुक वधू अपने पति को जी-जान से चाहती है, उसका पारस्परिक प्रेम इतना ऊँचा है कि वह थोड़ी देर के ही वियोग से व्याकुल हो उठती है। वह सुनकर कहती थी—'हां, हो सकता है या

होगा।' इससे आगे न उसने कभी सोचा था, और न समझती थी कि उसका कोई उपयोग हो सकता है। अभी अभी अपने विवाह में ही भांवरों से पहले तक उसे इस तरह के किसी भाव का अनुमान नहीं हुआ था। उसे यह कौतूहल अवश्य था कि वह अपने पति को देखे। पति सुरूप अथवा कुरूप कैसा है? सुरूप होगा तो वह वह क्या करेगी और कुरूप होगा तो क्या होगा, यह तक उसने निश्चय नहीं कर पाया था। केवल देखने भर की उत्कण्ठा थी। इसीलिए सबसे पहला काम अवगुंठन के भीतर से नेत्रों ने अपने-आप समझकर पूरा कर लिया, किन्तु उस एक झलक में ही अलौकिक बात हुई। अपरिचित अनजान युवक का मौर के बोझ से अवनत मुख श्यामा को जैसे नित्यप्रति का देखा हुआ सा लगा। वह अनुपम नहीं था। उसमें बिलकुल साधारण सरल सुन्दरता थी। श्यामा ने उसे पहली ही बार देखा, जल्दी में देखा, पर न जाने क्यों आकर्षक मालूम हुआ? क्षणभर में ऐसा समझ पड़ा जैसे बरसों का स्नेह रहा हो। देखते ही देखते श्यामा पर जादू हो गया। उसका संस्कार-जात प्रेम जागकर उसकी नस-नस में चक्कर काटने लगा। उसने ठहरकर एक बार सोचा—क्या इसी तरह अपने पतियों के लिए अज्ञात रूप से अनायास सबका प्रेम-नद उमड़ पड़ता है?

विदा के समय सचमुच एक बार फिर विकट घड़ी

आई। वह रोना चाहती थी, पर आंसू नहीं गिरता था। कण्ठ से बोल नहीं फूटता था। उस समय उसके सजल नेत्रों में माता का स्नेह, मलिन मुख पर पिता का प्यार और विवर्ण शिष्टाचार में गुरु-जन का सम्मान दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित थे। साथ ही हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में लालसा के सुनहले आवरण से आच्छादित उल्लासमयी फुलझड़ी अलक्षित भाव से जगमग कर रही थी।

बहिष्कार

[१]

जयशकर खासा पहलवान था, लेकिन उसकी सारी पहलवानी, सारी ताकत, सारी जवाँमर्दी और सारी बहादुरी खत्म होती थी घर के भीतर—उसकी सुशीला स्वरूपा गृहिणी कुन्ती के कोमल अगों और उसके दुबले-पतले हाड़ों पर। विवाह हुए छ सात वर्ष हो चुके थे लेकिन वह यह न समझ पायी कि किस समय क्या करने से स्वामी के निकट उसकी क़द्र होगी। इतने समय में जितने दिन गुज़रे होंगे उसकी दूनी बार उसके स्वामी ने उसके ऊपर प्रहारकर उसे छठी की याद दिलायी होगी। इसलिये उसकी सहन-शीलता की मात्रा बढ गई थी। ससुराल का यही एक सुख है ऐसा उसने मान रक्खा था।

एक दिन भोर होते ही जयशंकर ने विगड़कर कुन्ती की पीठ पर दो चावुक जमा दिये थे; और उसी आवेश में ख़ुद घर से वाहर निकल गया था। नित्य की तरह कुछ देर रो-धोकर वह उठ वैठी। मकान की सफ़ाई की, स्नान किया, भोजन वनाया और उसे लेकर चौके में वैठी-वैठी थक गई लेकिन जयशंकर वापस न आया।

इतनी देर तो वह कभी वाहर न रहते—यह सोचकर कुन्ती एक वार अपने कठोर स्वामी के लिये कोमल-भाव से सोचकर चिन्तित हो उठी।

वे मारपीट कर वाहर चले गये थे, और वह वड़ी देर तक अन्दर रोती रही थी। कहीं उसका रोना सुनकर किसी पड़ोसी ने उन्हें कुछ कह तो नहीं दिया? न जाने इन लोगों को क्या पड़ी रहती है, जो मर्द-औरत की घरेलू वातों में दख़ल दे वैठते हैं। उनकी आदत है, वे मारते हैं, मैं पिटती हूँ—यही सोचती हुई कुन्ती दरवाज़े के पास खड़ी हुई जयशंकर की प्रतीक्षा कर रही थी। सुवह से निकलकर शाम कर दी और वह अभी तक वापस नहीं आया था। विना कारण इस लम्वी ग़ैर-हाज़िरी ने कुन्ती को क़रीव क़रीव रुला दिया था। सुवह का भोजन वैसा ही पड़ा हुआ था। भूखी-प्यासी कुन्ती स्वामी की प्रतीक्षा वड़ी उत्सुकता से कर रही थी। एका-एक दरवाजा ठेलकर जैसे ही जयशंकर अन्दर आने लगा

त्यों ही पीछे खड़ी हुई कुन्ती धक्का खाकर गिरते-गिरते बच गई।

दिन भर गायब रहकर उसे भूखों मार डाला, चिन्ता से उसे अधमरा कर दिया—इस तरह की जो वाजिब शिकायतें सोचकर कुन्ती खड़ी थी, वे सब उसी के पास रह गईं। उल्टे बेतरह एक कड़ी फटकार उसके ऊपर पड़ी—"बेहूदी! दरवाज़े के पास खड़ी होकर किसे झाँकती है?"

कुन्ती के मुँह से कोई उत्तर न निकला। वह किसके लिये झाँक रही थी। वह कौन से भाव लेकर किस की प्रतीक्षा कर रही थी, यह सब बतलाकर सफाई देते समय उसकी ज़बान रुक गई। जिसे किसी ने मर्दों के आगे कभी सिर उठाते नहीं देखा था उस कुन्ती को यह सब अपने स्वामी पर प्रकट करके निर्लज्जता का अभिनय करना गवारा नहीं था।

बस, फिर क्या था! जो कोड़ा छः महीने घोड़े की पीठ पर चलकर नहीं टूटा था, वह चार सड़ाकों मे अलग जा पड़ा। कुन्ती मार से बेदम होकर पृथ्वी पर लोट गई। एकाएक बेतहाशा गिरने से वह बेहोश हो गई। उसकी सारी सुध-बुध जाती रही, लेकिन जयशंकर का हाथ न रुका।

[२]

पडोस की एक लड़की से कुन्ती ने जयशंकर का हाल पूछा था। कुन्ती ने उसे बतलाया था कि किस तरह वह सुबह से भोजन बना कर उसकी प्रतीक्षा में बैठी है। लड़की उसकी मर्मान्तक चीख़ सुनकर दौड आई, पर उसके पहुंचने तक कुन्ती बेहोश हो गई थी और नरपिशाच की तरह जयशकर उसके शरीर को पीट रहा था। लड़की ने भागकर हल्ला मचा दिया। पड़ोस के बहुत से स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो गये, लेकिन उस समय तक जयशकर जी भरकर मार चुका था। कुन्ती निर्जीव-निष्प्राण सी बेहोश पड़ी थी।

सभी लोग जयशकर की क्रूरता पर उसकी निन्दा करने लगे। पड़ोस की स्त्रियों की बडी सेवा के बाद कुन्ती होश में आई, फिर भी कई दिन तक उसमें उठने-बैठने की सामर्थ्य न थी। जगह जगह शरीर में घाव हो गये थे; जो शायद महीनों तक और उनके निशान आजन्म बने रहे होंगे।

जयशकर की इस अमानुषिक-प्रकृति पर लोगों में बड़ा असन्तोष फैला। तमाम गाँव के लोगों ने मिलकर पंचायत की। उस अत्याचारी क्रूर मनुष्य को उपयुक्त दण्ड देना विचारा, लेकिन यह भी किसी से छिपा नहीं था कि जयशंकर के लिये किसी कष्टकर दण्ड का विधान करने

से उस सज़ा का सारा कष्ट कुन्ती पर पड़ेगा। आखिर सोच-विचारकर उन्होंने जयशंकर का सामाजिक बहिष्कार करना तय किया।

[३]

धन, कुल, मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा जिनका सदा से जयशंकर को गर्व था। समय-कुसमय जिनका सहारा लेकर उसने न जाने कितने असंभव संभव कर डाले थे—इस बार उसके सारे अस्त्र कुण्ठित से हो रहे थे। किसी का अधिकार कोई मानने को तैयार नहीं था।

घर के नौकर, छोड़कर बैठ रहे थे। खेत में काम करनेवाले भी न आते थे। मेहतर, धोबी सभी ने अपना काम बन्द कर दिया था। यदि वह किसी के यहाँ जाता था तो कोई भी उससे बात नहीं करता था। पहला दिन ही उसे ऐसा मालूम पड़ा जैसे वह एक महा-भयंकर परिस्थिति में पड़ गया है। दो-चार दिन में उसका वहाँ रहना असम्भव हो गया। जिन लोगों को वह सदा कूड़ा-कचरा और हीन-अपदार्थ समझता था, उन सब का मूल्य और उनकी असाधारण प्रतिष्ठा का उसे आप ही ज्ञान हो चला। कभी जिनकी स्थिति का अस्तित्व उसने स्वीकार ही नहीं किया था, उनकी महत्ता जबरदस्ती उसके ध्यान को अपनी ओर खींचने लगी, लेकिन इस बहिष्कार के समस्त व्यवधान में कुन्ती ही एकमात्र उसके

लिये सेतु का कार्य करती थी। इस समय वह केवल गृहिणी ही न होकर, नौकर-चाकर, धोबी-कहार सभी कुछ बन गई थी। अपनी शक्ति भर वह स्वामी को किसी तरह की तकलीफ़ नहीं होने देती थी।

इतना होने पर भी जयशकर कुन्ती के साथ पूर्ववत् ही बर्ताव करता था; बल्कि उससे भी अधिक वह उसकी बुरी तरह ख़बर लेता था। वह अच्छी तरह जानता था कि उसके ऊपर समाज के कोप का कारण उसकी स्त्री ही है। अभी तक उसे अपने चरित्र की गति पर सतोष था, पर कुन्ती भी अपने कर्तव्य पर दृढ़ थी।

[४]

घर में जबतक सारी चीज़ें मौजूद थीं, कुन्ती किसी तरह काम चलाती रही। जब धीरे-धीरे वह खतम होने लगीं उसी तरह उसकी शक्ति भी निरुपाय हो चली।

बाज़ार का कोई आदमी जयशकर के हाथ सौदा नहीं बेचता था। ओह! ऐसी कष्टकर आफ़त की कल्पना तो उसने कभी न की थी। मित्रों से मिलने को, लोगों से सलाह-मशविरा करने को, बालकों से हँसने-बोलने को उसका जी मचल-मचल कर रह जाता था पर सब उसे देखकर ऐसे भागते थे जैसे वह भूत हो। वह अपनी ही जन्म-भूमि मे एक अपरिचित आदमी की तरह रहते हुए व्याकुल हो उठा। कपड़े मैले हो गये थे, साबुन नहीं रह

गया था। दो दिन से खाने का सामान चुक गया था। भूखे मर रहे थे। ऐसी दशा में ऊब कर और झल्लाकर चुपके से रात को जयशंकर मकान से निकल पड़ा। समाज का कठिन दण्ड उसे असह्य हो गया था।

जिस बात को कुन्ती डरती थी वही हो गई। वह अपने निष्ठुर स्वामी के लिए आँखों के आँसू न रोक सकी। रो-रोकर समाज की कड़ाई पर मन ही मनआलोचना करने लगी।

जयशंकर के जाने की खबर सुनते ही सब लोग पूर्ववत् अपना-अपना काम करने लगे। जिन चीजों का अभाव हो गया था वे सब आकर मौजूद हो गईं। लेकिन अब उनका उपयोग करनेवाला न था। कुन्ती? कुन्ती ने तो बहिष्कार से भी कष्टकर जीवन बिताना शुरू कर दिया था। लोगों के बहुत समझाने पर भी उसने न माना। स्त्री की अचञ्चल दृढ़ता पर लोगों को झुकना पड़ा। कुन्ती उसी तरह रही जिस अवस्था में जयशंकर ने घर छोड़ा था। वह मानव मात्र से किसी तरह की कोई सहायता न लेती थी। तपस्या और साधना की वेदी पर चुपचाप अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पणकर भविष्य के अनिश्चित हाथों में अपने-आपको सौंप चुकी थी। लोगों ने यह देखकर जयशंकर की तलाश में चारों ओर आदमी भेज दिये थे, पर अब तक उसका कोई समाचार न मिला था।

[५]

विदेश के दुख की कल्पना घर में नहीं हो सकती, लेकिन मातृभूमि के सुख का अनुभव अच्छी तरह घर से बाहर ही होता है। उस क्षुद्र अपने घर की महत्ता अच्छी तरह ज्ञात होती है।

जयशंकर को बहिष्कार के दिन तक इतने नीरस न हुए थे जितने इस समय एक बड़े नगर में लाखों आदमियों की भीड़ में प्रतीत होते हैं। वह अच्छी तरह अनुभव करने लगा कि घर पर नौकरों के काम छोड़ देने और मित्रों के विशेष भाव से रूठ जाने में एक तरह का रस था, जिसका यहाँ सर्वथा अभाव है। यहाँ ज़बान की चपलता और शिष्टाचार की ख़ूबी में एक हृदयहीन आत्मा छिपी हुई है, जो नीरस है, शुष्क है और है स्वार्थ के भाव से संश्लिष्ट किन्तु मातृभूमि के लोगों की उदासीनता में एक सौहार्द्र था, उनके कोप में एक हितकामना थी। वे अपने अधिकार को समझते और उसका उपयोग करते हैं। यहाँ विदेश में मानव-मात्र के प्रति कोई अधिकारों की खोज नहीं करता। यहाँ तो केवल स्वार्थ का दौर-दौरा है।

इन सब बातों को विचारकर जयशंकर का हृदय अनन्त पश्चात्ताप से द्रवित हो गया। जो आंखें सदा क्रोध की ज्वाला से जलना जानती थीं, वे आज जल-बिन्दुओं के शीतल स्पर्श से भीगकर शान्त हो गईं। जो हृदय-

निष्फल आक्रोश से धधका करता था; वह मधुर पीड़ा से स्पन्दित हो उठा। उसने इस असम्भाव्य निर्वासन में अपने जीवन के अनुपम ध्येय को खोज लिया। उसी दिन उसने घर जाने के लिये अपने सारे नवीन बन्धन निर्दयता से तोड फेंके। वह पिंजर-मुक्त पक्षी की तरह स्वच्छन्द-अबाध गति से लौट चला।

वह घर पहुँचा पर कुन्ती भीषण रोग से दुर्बल होकर चारपाई पर पड़ी थी। उसकी जीवनगाथा का अन्तिम अध्याय बहुत जल्दी समाप्त होने वाला था, फिर भी जयशंकर को लौटा देखकर एक अपूर्व आभा से उसका मुख खिल उठा। जीवन की पुण्यतम साधना के पवित्र अश्रु-कण दोनो नेत्रों से निःसृत होकर अन्तिम भेंट की तरह जयशंकर के पैरों पर गिर पडे।

वह स्तब्ध-निश्चल भाव से चुपचाप खड़ा रहा। जैसे जीवन की अज्ञात सभी बातें एकाएक उसके समीप स्पष्ट हो उठी हों। उसने कुन्ती का हाथ बड़े प्यार से अपने हाथ में ले लिया।

कुन्ती की छल-छलाई हुई आँखों में एक स्थिर ज्योति अचल भाव से आकर बैठ गई। उसका निष्प्राण-निस्पन्द शीतल हाथ लिये हुए जयशंकर अवाक्-सा बैठा रह गया।

अछूत

[१]

लोचन चमार की विधवा ने टूटी झोंपड़ी से निकल कर बालक को गोदी में भर लिया और उसका मुँह चूम-कर कहा—"बेटा! तू निरा पगला है। भला ये रोटी के टुकड़े लेकर कहा जायगा?"

बालक—नहीं अम्मा! मैं तो लेजाऊंगा।

माता—जिद अच्छी नहीं होती। जिन्हें सुन्दर से सुन्दर भोजन का भोग लगाया जाता है, वहां यह सूखी रोटी! चलो, ऐसी बातें नहीं करते। तुम तो बड़े राजा-बेटा हो।

बालक सिर हिलाकर कहने लगा—"रोटी से भी अच्छा भोग लगाते हैं? मेरी रोटी न खायंगे? वाह मैं उनके मुँह में न ठूस दूँगा"।

माँ की आंखों मे आंसू आगये। वह मन ही मन कहने लगी कि उसने नाहक सिर पर यह बला खड़ी कर ली है। यदि वह स्वय उसके हृदय में ऐसी भावना न भरती तो, आज यह समय क्यों आता ? फिर भी उसने बड़े धीरज के साथ कहा—"मान जाओ। वहां तुम्हे कोई जाने भी तो नहीं देगा। बडे पुजारी महाराज वहा पहरा देते हैं। वे हम लोगों की पूजा के ठाकुर नही है। अपने ठाकुर तो तुम्हारे घर ही हैं। उन्हें क्यो नहीं खिला देते ? वे गरीब भी हैं और उतने ऊ चे भी नहीं हैं। मन्दिर के ठाकुर अमीर कुलीन हैं। हम अछूत गरीबों को उनके दर्शन का अधिकार नहीं है।"

बालक ने मचलकर कहा—"नहीं मैं तो जाऊँगा। मुझे वहा कोई नहीं रोक सकता। मैं जोर से चिल्ला दू गा। तुम्ही कहती थीं कि वे बडे दयावान हैं। क्या तब भी अपने पास न बुला लेंगे ?"

मा ने उमडते हुए हृदय को बहुत थामकर कहा—"अच्छा चले जाना, मैं तुम्हें रोकती नहीं। लेकिन इस दोपहरी में मंदिर का द्वार बंद होगा। अभी ठाकुर जी के आराम में विघ्न पड़ेगा। अगर नहीं मानते हो, तो थोड़ी देर बाद साँझ को जाना।"

माँ की यह बात बालक ने सहज ही मान ली। माता ने भी सतोष की सांस ली। उसने समझ लिया कि खेल

में सब भूल जायगा, पर बालक की धुन पक्की थी। उसने ले जाकर रोटी कठौए के नीचे छिपा दीं। माँ अपने काम में लग गई।

गोधूली के धुमैले प्रकाश में बालक ने एक बार धीरे से कहा—"अब तो आरती का वक्त हो गया।"

उसके कोमल और सरल स्वर को और चाहे किसी ने न सुना हो, पर वे रोटी के टुकड़े और फूटा कठौआ बड़ी उत्सुकता से सुन रहे थे। सनसनाते हुए हुए समीर के झोंके में मानों उन्हीं की दुहरायी हुई बात प्रतिध्वनित हो उठी। बालक ने शीघ्रता से उन्हें उठा लिया और मन्दिर की ओर दौड़ गया।

मंदिर की चकाचौंध पहली ही बार उसने देखी थी। इसलिए, वह बड़ी देर तक चकित और घबड़ाया हुआ सा चारों ओर ताकता रहा। वहाँ की तड़क-भड़क और गाजे-बाजे का उसके हृदय पर बड़ा असर पड़ा। उसके मनमें आया कि सचमुच ही माँ की बात न मानकर उसने भूल की। उसने अपनी रोटी को दोनों हाथों से खूब कसकर कुरते में छिपा लिया। वहां आ गया था, इसलिए भाग भी नहीं सका। हिंडोले पर झूलती हुई उसने जब ठाकुरजी की मूर्ति देखी, तब श्रद्धा और लाज से माथा झुका लिया। उसी समय उसके सामने किसी ने आरती बढा दी। वह भय से पीछे हटा, पर उसके हाथ बढ़कर आरती लेने लगे

और रोटी छूटकर ठाकुर जी के चरणों के पास जा पड़ी।

पुजारी ने पीछे से हल्ला किया, और लोगों ने 'शूद्र' 'चमार' कहकर छिः छि करके उसे बाहर ढकेल दिया। वह अचेत होकर चबूतरे के नीचे गिर पड़ा, पर उस ओर किसी ने ध्यान न दिया। सब लोग शूद्र की हवा से अपवित्र हो गये भगवान को गंगा-जल से आचमन करा रहे थे। रोटी फिकवाकर गाय के पवित्र गोबर से पृथ्वी लीपी जा रही थी।

[२]

जब बालक ने चोट से कराहकर आँखें खोलीं, तब अपने आप को रोती हुई माँ की गोद में पाया। उसकी आँखों से आसुओं की धार बह रही थी।

बहुत दिन हो गये पर बालक का मन इस घटना को याद कर के सदा कचोटता रहा। उसे ग्लानि और शोक केवल इतना ही था, कि जिन के बल पर वह मन्दिर मे प्रवेश करने का साहस कर सका था, उन्हीं की उपस्थिति में, वह बुरी तरह दुरदुराया गया। वे देखते रहे, और कुछ भी न कहा। सारा अत्याचार उन्हीं के सामने हुआ, पर वे चुप थे। उन की निष्ठुरता पर उस दिन उसे और भी क्रोध हुआ, जब उसे अनाथ और असहाय बनाकर उसकी माता को भी उन्होंने पकड़ बुलाया। वह सिर फोड़कर जब माँ को रोकने लगा था, तब मां ने आंखें

खोलकर इतना ही कहा था—"मुझे ठाकुर जी बुलाते हैं। उनकी आज्ञा अमान्य नहीं हो सकती। तुम डरो नहीं। वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। लाओ, एक बार अपना हाथ मुझे चूमने दो।"

इसके बाद मां का प्राणान्त हो गया। अकेला बालक रोता चिल्लाता रहा। उसी समय से ठाकुर जी की कठोरता और स्वार्थपरता से उसका मन खिन्न हो गया। अनेक वर्षों की स्थापित मूर्त्ति को लेकर उसने नाले मे फेंक दिया। तुलसीचौरे को खुरपी से ढहाकर ढेर कर दिया। उस समय उस के मन में तनिक भी दया-मया का संचार न हुआ।

एक अछूत का अप्रत्याशित साहस पुजारी महाराज के दिल में काँटे की तरह खटकता रहा। उनका कहना था कि यह उपद्रव जान-बूझ कर किया गया है। घोर कलियुग आ गया है। शूद्रों ने शास्त्रों की पवित्रता को नष्ट करने का ठेका ले लिया है, पर उनका विश्वास था कि ऐसी अनाचार की आँधियाँ संसार में कई बार आ चुकी हैं, लेकिन दीपक की ज्योति पर पतंगों की भांति आतता-इयों का अंत ही अवश्यम्भावी है। उनकी दुराकांक्षाओं का दमन स्वयं भगवान को अभीष्ट है। उन्हें तो स्वप्न में कई बार भगवान की ओर से यह पवित्र आदेश मिल भी चुका था कि शत्रु को कभी पनपने न दो। अपने

भक्तों के हाथ से उनके प्रयास को नष्ट होते देखकर वे प्रसन्न होंगे।

पुजारी जी के इन भावों ने भक्तों के उदार हृदय मे तहलका मचा दिया। क्षुद्र रस्सी की जगह भयकर साँप बन कर रेंगने लगा। एक छोटे से बालक की सरल और बालकोचित भावना ने विग्रह और मनोमालिन्य का विस्तृत रूप धारण कर लिया। नीचों की इस हरकत से धनी-मानी कुलीन, जमींदार और महाजनों को भी बुरा मालूम पडा। और कुछ हो जाता, यदि उसी समय लड़की के अचानक बीमार हो जाने से पुजारी जी को बाहर इलाज के लिए न जाना पडता। इधर पुजारी जी चले गये, और उन्हीं के साथ विद्वेष का प्रज्वलित भाव भी थम गया। इसी बीच मे अपने दुलारे बालक, मुलुआ को अनाथ छोडकर, लोचन की विधवा उस धाम को चली गई, जहाँ ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है।

माँ के बाद किसी ने उस बालक की परवाह नहीं की। वह बेचारा दर-दर मारा फिरा। आखिर उसे अपने पैतृक धर्म से काफी त्रस्त हो जाने पर ईसाईमत की दीक्षा लेनी पडी। ऐसा करते समय उसे कुछ बुरा नहीं मालूम पडा। न तो उसकी उम्र ही अधिक थी और न अपन धर्म के प्रति श्रद्धा के ही कोई विशेष कारण थे।

पुजारी जी जब प्रवास से लौटे, तब आनन्द से फूल-

कर उन्हें यह कहने में सकोच नहीं हुआ कि ठाकुर जी के अपमान के कारण ही उस शूद्र का घर गिरकर ढेर हो गया। माँ मर गई, बेटा लापता हो गया। ज़मीन का भी कभी-कभी दुर्भाग्य होता है, अब वहाँ कुत्ते और बिल्लियाँ तक नहीं रोते। उस समय पुजारी महाराज यह बात भूल ही गये थे, कि उसी बीच में उनकी लडकी भी तो मर गई थी। घर में अब दूसरा दिया जलानेवाला नहीं रह गया था। लेकिन शायद यह बात याद भी आजाती, तो भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता था कि यह भी भगवान का ही कोप है। क्योंकि बात-बात में उनके मुँह से निकलता था—'भगवान जो कुछ करते हैं अच्छा ही करते हैं।'

[२]

इन बातों को गुज़रे ज़माना होगया। न किसी को मुलुआ की याद थी, न उस घटना की। पुजारी जी की उम्र साठ से दो-एक वर्ष ऊपर निकल चुकी थी, तथापि ठाकुर जी की कृपा और तर माल की बदौलत चेहरे पर नौजवानों से बढकर रौनक़ थी। भगवान की रासलीला के अध्याय उलटते समय वे जिस स्फूर्ति से अङ्गभङ्गी दिखलाते थे, वह श्रोताओं में अनुराग और भक्ति की तरङ्गिनी लहरा देती थी। उनकी चेली-दासी तो उन्हीं में इष्ट-देव का आभास पाकर झूम-झूमजाती थीं।

अचानक विपत्ति टूट पड़ी। पुजारी महाराज पर एक चौदह वर्ष की युवती पर बलात्कार करने का अभियोग लगाया गया। सारे शहर में यह खबर बिजली की तरह दौड़ गई। लोगों को विश्वास नहीं होता था? जो सुनता, वही कानों पर हाथ रख लेता था, पर पुजारी जी लापता थे। बहुत तलाश हुई लेकिन उनकी गिरफ्तारी न हो सकी। उस दिन से मन्दिर के द्वार अक्सर बन्द रहने लगे। धीरे धीरे भक्तों की भीड़ भी कम होती गई। सुनसान-सा हो गया।

माघ की अंधेरी रात थी। पुजारी जी सिंहासन के बीच भूमि पर माथा घिसकर क्षमा माग रहे थे। आंखों में अनुताप के आँसू थे, माथे पर कलङ्क की कालिमा। जिस मन्दिर पर जन्म भर अधिकार रहा था, वहीं चोरों की तरह सिसकियाँ तक लेने में डरते थे। बहुत मिन्नत और प्रार्थना की, पर स्वीकार नहीं हुई। कैसे होती, अनाचर से ठाकुर जी तंग आ गये थे। एक दो नहीं, दर्जनों सतियों के सतीत्व का अपहरण पुजारीजी ने उन्हीं के सिंहासन की ओट में किया था। उस दिन तो उन्होंने सामने ही, चरणों के पास, अपने पापों की गठरी खोल दी थी। प्याला तो लबालब भरा ही हुआ था। एक बूँद तक डालने की गुंजाइश न थी, पर खुल गया मटके का

मुह ! तव आजिजी और मिन्नत, क्षमा और प्रार्थना क्या कर सकती हैं !

ठाकुर जी के मुंह फेर लेने पर भी आज पुजारी जी उठते न थे। इसी समय द्वार खुला, और विजली का प्रकाश चारों ओर फैल गया। पुजारी जी हड़वड़ा कर उठ वैठे। उनके चारों ओर पुलिस के सिपाही थे, और सामने डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस सपत्नीक खड़े थे। पुजारी जी ससम्भ्रम हाथ जोडकर उस युगुलजोडी के आगे खड़े हो गये। साहव का पुराना नाम मुलुआ था।

इस समय साहव के मन का विचित्र हाल था। वे पन्द्रह वर्ष पहले का दृश्य देखकर क्षुब्ध हो रहे थे। वे सोचते थे कि उस समय क्रोध में आकर उन्होंने ठाकुर जी के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया था। उन्हीं ठाकुरजी की कृपा से आज यह अवसर मिला, जब उन्हें चमार कह कोई निकालनेवाला न था। स्वयं पुजारी जी हाथ जोड़-कर क्षमा मांग रहे थे। एक दो मिनट में गत-जीवन की सारी बातें एक-एक करके उनके स्मृति-पटल से गुजर गईं। मृत सास ने अतिम समय फ्लोरा का हाथ उन्हें सौंपकर अपनी कहानी टूटे-फूटे शब्दों में वताई थी, कि किस तरह पुजारी जी अपनी असहाय लड़की को छोड़-कर अपना कलक दूर कर आये थे। उन्होंने एक बार भी यह विचार न किया था कि वे अपनी ही संतान के साथ

कैसा अत्याचार कर रहे हैं। उन बातों को याद करके एक बार उनकी भृकुटियों पर क्रोध की कुञ्चित रेखा दिखाई दी। पर तुरन्त ही प्यारी फ्लोरा के सशंकित और कौतूहल-पूर्ण हाव-भाव देखकर उनका वह भाव तिरोहित हो गया, और उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया, कि उस दिन की सूखी रोटी सुदामा के चावल हो गई थी।

वनलता

[१]

द्रुतगामिनी, शुभ्रतोया तुङ्गभद्रा समीपवर्ती पर्वतमाला से निकल, सघन-वनस्थली को चीरती हुई अनन्तकाल से इसी भाँति प्रवाहित है। प्राणि जगत का अनेक बार कायापलट हो चुका; किन्तु उसकी अविनश्वर गति का कभी भी अवरोध न देखा गया। उसके अञ्चल-युगल से सटी हुई विटपावली में वही मर्म-ध्वनि और तरल-तरङ्गों में वही कल-कल-निनाद है। वहाँ का सुख शाश्वत, सौन्दर्य्य चिरन्तन और वैभव अचल है। विराट् विश्व की प्रकृत-शोभा ने केन्द्रीभूत होकर वहाँ एक अनुपम शृङ्गार की सृष्टि कर दी है। शब्दों में शक्ति नहीं, कल्पना में गति नहीं, जो उसकी वास्तविक सुषमा की अनुभूति करा सके।

वहीं एक प्रस्तरखण्ड का सहारा लेकर सभीत मृगी की भाँति बनलता, अस्ताचलावलम्बी सूर्य्य को तिरस्कार करती हुई, खड़ी थी। क्षण भर स्तब्ध-भाव से अचल रह कर विकम्पित स्वर में कहने लगी—"हा! पिताजी तो कहते थे कि, अब हम निरापद स्थान में आ गये। यद्यपि यह सच है कि, शत्रु यहाँ नहीं आ सकते, किन्तु पिताजी के चले जाने से मेरे लिये आपदा अवश्यम्भावी है। साथ ही मेरे समीप रहने की अपेक्षा उनको माता जी के उद्धारार्थ जाना भी आवश्यक था, परन्तु इतना विलम्ब क्यों? क्या रोग-ग्रस्त प्यारी माता की वेदना बढ गई अथवा पिताजी द्रोहियों के रक्त-रञ्जित हाथों में पड़ गये?"

उसी समय पार्श्ववर्ती वन-पथ से उछलकर एक सशङ्कित कुरङ्ग-शावक उसके धूलि-धूसरित शीर्ण अञ्चल में शरण माँगने लगा। नर-पिशाचों द्वारा पीड़ित, नीरव-वनस्थली में आश्रय ग्रहणकरनेवाली बनलता ने उसे वन-पिशाचों द्वारा सताया हुआ—मानवी-आश्रय की खोज में, समान दुखिया समझ बड़े चाव से स्थान दिया। उसको भुज-लतिकाओं से परिवेष्ठितकर अश्रुपात करते हुए, वह कहने लगी—'हे कानन की शोभा! तुम्हे सतानेवाला क्रूर हिंसक सचमुच ही हृदय-हीन है।" यह सब क्रिया उसने इस भाँति पूर्ण की, मानो वह अपने समस्त दुःख भूल गई हो!

इसी समय पीछे से अवनत-मुखी सघन डालियों को चीरकर तीन शस्त्र-धारी यवन निकल आये। ऐसे विजन-विपिन में भव्यस्वरूपा रमणी-रत्न को मृग-शावक के साथ देखकर कौतूहल एवँ भय ने उनके हृदय को हिला दिया। क्षण भर के लिये उन्होंने अपने आपको घोर विपद् में पड़ा हुआ समझा। उनका यह सन्देह स्वभाविक ही था कि, न जाने कितने लोगों ने भागकर उस उपत्यका में आश्रय लिया है। यदि वहाँ से निकल-भागने का मार्ग सुगम होता तो इसमे सन्देह नहीं कि, वे लोग वैसे ही लौट पड़ते; किन्तु उस दुर्गम मार्ग से किसी की दृष्टि में पड़कर भी साफ़ निकल जाना वस्तुत' असम्भव था। अतएव जब 'उभय भाँति देखा निज मरना' तो उन्होंने सोचा—यदि विपत्ति का कोई कारण उपस्थित होगा, तो इसी स्त्री की शरण जायेंगे अन्यथा ऐसी अश्रुत-सुन्दरी का लाभ होगा। इन्हीं कुभावों से प्रेरित होकर उन्होंने वनलता से पूछा—"कहिये, हूरों को मात करनेवाली आप कौन हैं? इस बियाबान में अकेले क्यों मारी-मारी फिरती हैं?"

वनलता ने इसका उत्तर भय, लज्जा, सङ्कोच और शोक-मिश्रित वाणी में इस भांति दिया—' मैं चम्पत माली की बेटी हूँ। मेरे पिता विजयनगर महाराज के प्रमोद-कानन के रखवाले थे। महाराज की पराजय और

विधर्मियों के अनाचार के कारण वे मुझे यहां ले आये थे। जल्दी के मारे मेरी रोग-ग्रस्त माता हम लोगों के साथ न आ सकीं, अतएव मुझे यहाँ छोड़कर पिता जी कई दिन से उनकी अवस्था अनुसन्धान करने गये हैं। नहीं मालूम, वे अबतक क्यों नहीं आए? क्या आप लोग उनका कुछ पता दे सकते हैं?" इतना कहते-कहते उसका गला भर आया। वह मुँह फेरकर रोने लगी।

अब क्या था, भयातुर यवन सैनिकों के सशङ्कित चेहरे पर उल्लास की रेखा झलकने लगी। अभी एक क्षण पूर्व जिस वनलता को देखकर उनके दिल दहल गये थे, जिस अनायास विपत्ति का पूर्वाभास पाकर उनकी धमनियों का रक्त-सञ्चार मन्द पड़ गया था, उसे ही असहाय, निर्बल, निरीह और अरक्षित पाकर उनकी वासना-पूर्ण लालसा-वृत्ति जाग्रत हो उठी। उनमें से एक ने वनलता के प्रश्न का बड़े कोमल छद्म-वाक्यों में इस प्रकार उत्तर दिया—"नाज़नी! तुम्हें इस तरह रोने की ज़रूरत नहीं। तुम्हारा बाप यहाँ से जाते हुए रास्ते में गिरफ़ार हो गया। उसीने तुम्हारे इस जगह होने का पता दिया है। अगर वाक़ई तुम उसे रिहा कराना चाहती हो, तो फौरन हुज़ूरशाही में हाज़िर होकर उसकी रिहाई की दरख़्वास्त करो। मुझे कामिल यकीन है कि, तुम्हारी अर्ज़ क़बूल होगी।"

विपत्ति के समय मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाया करती है। उसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता—उसकी सत्यासत्य-विवेचन शक्ति लुप्त हो जाती है; अतएव माता-पिता के वियोग में व्याकुल वनलता जैसी भोली युवती का वाक्-विशारद यवनों के कपट-जाल में फँस जाना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। बेचारी को विश्वास हो गया। उसने सोच लिया कि, पिता के कल्याण के लिये उसे क्या करना चाहिये। सुतराम्, अधिक उधेड़-बुन न कर वह तुरन्त बादशाह के पास चलने को प्रस्तुत हो गई, किन्तु अन्य दो कामातुर सैनिकों को यह प्रस्ताव पसन्द न आया। वे उसे कहीं ले जाने से पूर्व ही अपनी वासना तृप्त किया चाहते थे। फलत. उन्होंने पहले शब्दों से फिर बलपूर्वक प्रतिरोध करना आरम्भ किया, किन्तु पहला सैनिक स्वामिभक्त, दृढचित्त और स्थिर-प्रतिज्ञ था, अतएव उसने उनकी किञ्चित् परवा न कर चमचमाती हुई धनुपाकार खड्ग के झटके से एक की जीवन-लीला का पटाक्षेप करते हुए पुन तलवार खींच ली, मानो वह अभिनीत दृश्य का ज़वनिका-पात करते ही नूतन नाटक के सूत्रपात में प्रवृत्त होगा। किन्तु यह क्या ? दूसरा सैनिक तो जीवन याचना कर रहा है और वनलता है धराशायिनी, अचेत तथा अवस्था-विस्मृत।

[२]

परिवर्तन शब्द के उच्चारण से जो ध्वनि निकलती है, उससे इसकी अर्थ-व्यापकता कहीं अधिक है। इसका कुछ-कुछ आभास वनलता की परिवर्तित अवस्था से संगृहीत हो सकता है। जिसके जीवन-नाटक का प्रथम अङ्क राजकुमारियों के साथ हास-परिहास में बीता है और द्वितीय अङ्क मे उल्लिखित उपरोक्त घटना-क्रम सङ्घटित हुआ है, प्रस्तुत दृश्य उसी को वन्दिनी-वनलता के रूप मे उपस्थित करता है। यह सब क्या है? परिवर्तन शब्द की वैचित्र्यकरी विषमता!

अब वनलता भ्रम में नहीं है, सन्देह उसे नहीं सताता। वह अपने बन्दी-जीवन को कुस्वप्न का परिचायक नहीं समझती। वह शारीरिक यन्त्रणाओं को अनुभव करती है—शाह के कपट-जाल का उसे ज्ञान है। वह उसके दृष्टिकोण को समझती, उसके उपालम्भ को चुपचाप सुनती और उसकी मदोन्मत्त कुचेष्टाओं का प्रकाश्यरूप से तिरस्कार करती है। शाह भी उस अवशेष-पञ्जर-वन्दना रमणी की लाञ्छना से तिरस्कृत होकर चुप रह जाता है। उसके क्रोध-विकम्पित क्षीण कलेवर को देख कर काँप जाता है साथ ही उसकी एकाग्रनिष्ठा, अपूर्व त्याग, अनुपम सहनशीलता और अक्षुण्ण दृढ़ता को देख कर वह अपने नेत्रों की स्थिति पर सन्देह करने लगता है।

यदि कोई वीर-हृदय, स्वार्थ-त्यागी और कर्तव्य-परायण नृपाल होता, तो अवश्य ही इस प्रशसनीय एवँ अनुकरणीय आचरण का सानन्द अभिनन्दन करता और इसके कर्ता को अपनी अनुकम्पा के समुन्नत शिखर पर आरूढ़ कर देता, किन्तु वह था नृशंस, निर्दय, धर्माडम्बरी, इन्द्रिय-लोलुप और विलास-प्रिय। अतएव उसका हृदय सङ्कीर्ण, दृष्टि सङ्कुचित, बुद्धि कुण्ठित और मति अस्थिर थी। वह अपनी वासना-पूर्ण लालसा-वृत्ति को दवाकर एक स्त्री-रत्न की रक्षा नहीं कर सकता था। उसका मस्तिष्क-कोष मानवोचित व्यवहार से सर्वथा शून्य था। धर्म उसके लिये राज्य-प्राप्ति का एक उपकरण मात्र था, उसके यहाँ न्याय का विनिमय किसी भी मूल्यवान् पदार्थ से हो सकता था; फलतः धर्म और न्याय के नाम पर अनेक अत्याचार होते थे। यही कारण था कि, सुन्दरी वनलता के अलौकिक संयम से उसका शुष्क हृदय किञ्चित न पसीजता, प्रत्युत वह उसे अपना शिकार बनाने के लिये नित नूतन आयोजन करता, किन्तु सब निष्फल, सती-तेज के सामने सब कुछ भस्मसात्!

[३]

इधर वनलता के पिता ने नगर मे लौटकर जो दृश्य देखा, उससे उसका हृदय काँप गया। जहाँ पर कुछ दिन पूर्व गगन-स्पर्शी अट्टालिकाएँ श्रेणीबद्ध खड़ी थीं, वहां

मिट्टी और पत्थर के ढेर हैं जो सघन और कोलाहलपूर्ण निवास स्थल थे, वे नीरव और उजाड़ मैदान नज़र आते हैं। सौध-विहारिणी-कोकिल-कंठी-पुराङ्गनाएँ, जिन्होंने कभी द्वार का मुँह नहीं देखा था, पथ की भिखारिनी हो रही हैं। जिनके अगणित दास-दासी थे, वे स्वयं म्लेच्छ सरदारों और साधारण सिपाहियों की परिचर्य्या कर रहे हैं। अनेकों धर्मध्वजी शिखाएँ मुड़ाकर विदेशी धर्म की दीक्षा ले रहे हैं। देवालय कुकर्म का अड्डा हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त हो रहा है—भीषण रक्त-पात। कोई भी यवन सिपाही किसी भी हिन्दू सरदार के अन्तःपुर में बेरोक-टोक जाकर मनमाने पाशविक अत्याचार कर सकता था। हिन्दुत्व का मान, हिन्दुत्व का गौरव पद-पद पर लाञ्छित, अपमानित एवँ पद-दलित देखकर चम्पत के हृदय में गहरी ठेस लगी, किन्तु हो क्या सकता था ? बेचारा सब कुछ चुपचाप देखता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था। नहीं कह सकते कि, उसके हृदय में अपनी प्यारी स्त्री सुनन्दा के विषय में क्या-क्या भाव उठ रहें होंगे। जिस समय उसने अपनी सयानी कन्या बनलता के साथ घर छोड़ा था, उस समय प्रिया सुनन्दा को अत्यधिक कमज़ोर होने के कारण भाग्य के भरोसे, मकान पर ही रख जाना पड़ा था। अतएव उपरोक्त अवस्था देखकर चम्पत का उसके विषय में चिन्तित होना अस्वभाविक नहीं कहा जा

सकता। जैसे-तैसे वह गली-कूचों को पार करता हुआ अपने मुहल्ले में पहुंचा, तो क्या देखता है कि, वहाँ किसी उपद्रवी ने आग लगा दी है। उसके बढ़ने के साथ ही अग्नि भी बढ़ रही थी। देखते-देखते कितने ही घर भस्मीभूत हो गये। स्त्री-बच्चों का करुण चीत्कार बड़ा ही मर्मस्पर्शी था। चम्पत इन सबको देखते हुए भी, नहीं देख रहा था। उसके पैर उसे एक ओर शीघ्रता से लिये जा रहे थे, उसके उत्सुक नेत्र उसी ओर लगे थे और उसी ओर झुकी हुई थी उसकी चित्तवृत्ति!! जिस समय वह अपने चिर-परिचित गृह के पार्श्व में पहुँचा, उस समय अग्नि-शिखाओं ने उसे भी घेर लिया था! उसने स्वनेत्रों से अपनी प्राण-प्रिया को धकधकाती हुई ज्वालमालाओं के बीच पडी- क्षीण और करुण-स्वर में चिल्लाते देखा। उसका रहा-सहा धैर्य्य छूट गया—उसकी मति-गति ठिकाने न रही! देखते ही देखते वह बिजली की भांति मकान के अन्दर चला गया और एक सैकण्ड बीतते-बीतते पुनः बाहर आगया। इस बार वह अकेला नहीं था, उसके शरीर से माधवी-लता की भांति सुनन्दा भी लिपटी हुई थी। लोग साश्चर्य्य यह कौतुक देख रहे थे। उसने सुनन्दा को एक वस्त्र बिछाकर लिटा दिया और पागल की भाँति उसका अधरामृत पान करने लगा; पर सुनन्दा को कुछ भी ज्ञान न हुआ—शनैः शनैः वह निर्वाण से पहले दीपक की भांति

चैतन्य-लाभ करने लगी । उसने लड़खड़ाती हुई धीमी आवाज में कहा—"थो .डा. ज. ल .।" बस, उसकी आखें पथरा चलीं । जिह्वा टूटने लगी । चम्पत ने भी उसे आसन्नमृत्यु जान जल के अभाव में अश्रु-बिन्दु बहा दिये ।

लोगों ने यह सब काण्ड देखा, किन्तु समवेदना का अवकाश कहा ? सभी अपने-अपने बचाव मे व्यस्त थे। केवल चम्पत उस आत्मविहीन पंचभूतात्मक शरीर को अङ्क में लिए हुए, दुखी हृदय की वाष्प से लोचन-युगल धो रहा था । इसी समय यवनेतर लोगों को पकड़ती हुई सेना ने वहां भी धावा किया । कहना न होगा कि, उन क्रूर नर-पिशाचों ने दुखियारे चम्पत को भी बन्दी बना लिया । बेचारा अश्रुप्लावित नेत्रो से सविनय विलाप करते हुए मृत-सुनन्दा की अन्त्येष्टि-क्रिया का अवकाश मागने लगा । उसकी आर्त-पुकार ऐसी मर्मभेदी थी कि, सुनने वाले का हृदय टूक-टूक हो जाता था, वसुन्धरा काँप जाती थी ! दिशाएँ रो देती थीं और शिलाखण्ड पिघल जाते थे, ! किन्तु उन दुष्टों पर इसका ज़रा भी प्रभाव न पड़ा । उन्होंने झटके के साथ उसे खींच लिया । अत्याचार खिल-खिला कर हँस पड़ा, करुणा पनाह माँगने लगी, बसुन्धरा भार से दब गई और प्रकृति ने दिगञ्चल की ओट में रुँधी हुई उसांसे भरकर उनके कार्य्य में योग दिया !!

(४)

"इस्लामधर्म या मृत्यु—जो चाहो स्वीकार कर लो!" यह शाही फरमान आवाल-वृद्ध-वनिता समस्त कैदियों को सुना दिया गया। बहुतेरे प्राणों के भय से फ़िसल पड़े। हिन्दुत्व के चिह्न उतारकर—क्षणिक अपमान को सहकर—चिरस्थायी सांसारिक सुखलाभ के लिये विदेशी धर्म में दीक्षित हो गये। बहुत से अपने रङ्ग के पक्के थे, उन्होंने दृढ रहकर धर्म की मर्य्यादा को स्थिर रक्खा। वे एक-एक करके तलवार के घाट उतार दिये गये!

अब चम्पत की बारी है। अनेक ऊँच-नीच सुझाने पर भी जब उसने इस्लाम धर्म स्वीकार करने मे आना-कानी की, तो उसे भी बलिवेदी की ओर जाने की आज्ञा हुई। दूसरे क्षण उसकी गर्दन दमकती हुई तेज़ तलवार के नीचे दीख पड़ी। अब मरने में देर नहीं है। इसी समय पत्र-वाहक ने शाही हुक्मनामा लाकर दिया—आई हुई मृत्यु टल गई। खिंची हुई तलवार म्यान के अन्दर पहुंच गई, किन्तु चम्पत के निकलते हुए आँसू आजीवन उष्ण जलप्रपात की भाँति बहते ही रहे—दुखी हृदय की दर्द भरी आहें किञ्चित् कम न हुईं। इस गुड़ में भी छुरी छिपी हुई थी—अत्याचार के समुद्र में दया का यह लेश किसी कुत्सित भावना का परिचायक था। बात वास्तव में यह थी कि, यवनाधीश पिता की सहायता से पुत्री का स्त्रीत्व

अपहरण करना चाहता था। न्याय का यह नवीन प्रहसन इसीलिये रचा गया था।

शाही कर्मचारियों द्वारा चम्पत के कान तक उपरोक्त वार्ता पहुँचाई गई। अभी तक वह बेचारा बनलता के विषय में बिलकुल निश्चिन्त था। उसे क्या मालूम था कि, वह बेचारी भी कारावास की कठोर यातना से दुखी हो रही है। आज उसे घोर विपद् में पड़ा हुआ सुनकर उसका भग्नोदर मर्म्मान्तक पीड़ा से अभिभूत हो गया। यदि येन-केन प्रकारेण यह समाचार झूठ किया जा सकता—यदि प्राणों के मोल भी इसकी असत्यता ख़रीदी जा सकती—तो भी चम्पत के लिये वह सस्ती थी, किन्तु दुखिया पर ही दुख का पहाड़ टूटता है! नहीं तो जिसका घर-बार छूटा, गृहिणी अकाल-मृत्यु का ग्रास हुई, पुत्री विधर्मियों के अत्याचार का शिकार बनी, स्वयँ भी कोई गति बाक़ी न रही, फिर भी उसका दुखों से छुटकारा न हो।

बड़ी देर तक विलाप करने के उपरान्त उसने आत्म-हत्या करना निश्चित किया, पर किसी अज्ञात प्रेरणा ने उसे रोक दिया। उसके हताश हृदय में आशा की तरङ्ग सी उठने लगी। उसका कुम्हलाया हुआ बदनमण्डल फिर प्रफुल्लित सा ज्ञात होने लगा। उसे प्रसन्न देखकर यवन सिपाहियों द्वारा उसी बात की पुनरुक्ति की गई।

उसने मौन भाव से सब कुछ सुन लिया। लोगों ने उसे स्वीकृति का सूचक चिह्न समझा। नाना भांति उसकी आलोचना होने लगी। "मृत्यु किसे प्यारी होती है? घर आई हुई अतुल सम्पत्ति को कौन लात मार देता है? उच्च पद की किसे अभिलाषा नहीं? साधारण माली से जहाँ-पनाह का प्रेम-पात्र बनना कौन न चाहेगा?" इत्यादि। बात की बात में यह समाचार सारे लश्कर में फैल गया। लोग आ-आकर उसे अभिनन्दन देने लगे। उसे अनेक प्रकार से कार्य्य की सफलता की शिक्षा दी गई। उसने भी मुस्कराकर, हँसकर, उनकी बात का अनुमोदन किया और कहा—"ईश्वर की कृपा से सब कुछ ठीक ही होगा। आप लोग चिन्ता न करें, मैं अपने कर्तव्य से भली प्रकार परिचित हूँ।"

अनेक प्रकार से परीक्षा ले-लेने के उपरान्त उसकी बेड़ी काट दी गई। गुप्त-चर उसके चारों ओर लगा दिये गये। कहने को तो वह इस समय स्वतन्त्र था, किन्तु उसके प्रत्येक कार्य्य का निरीक्षण अनिमेष दृष्टि से होता था। उसके बहुत चाहने पर भी अभी वनलता से भेंट का अवसर नहीं मिला था।

जिस समय चम्पत के साथ यह सब बातें हो रही थीं, उस समय वनलता की अवस्था, बड़ी दयनीय थी। प्रति दिन उसके साथ असद्व्यवहार बरता जा

रहा था। उसके युगल नेत्रों से गङ्गा-यमुना की अविरल धारा रात-दिन प्रवाहित रहती थी। प्रत्येक उपाय से उसे विवश किया जा रहा था, किन्तु वह भी सती की तरह अचल, सीता की तरह दृढ और सावित्री की तरह अटल थी। उसे वश में लाने में कोई उपाय उठा नहीं रक्खा गया। जब सती के आगे साम, दाम और दण्ड सभी विफल हो गये, तो भेद नीति का अवलम्बनकर कार्य्य को सफलीभूत बनाने का प्रयत्न किया गया। चम्पत को आज्ञा हुई कि, वह जाकर वनलता को (उनकी भाषा में) राहे-रास्त पर लावे। बेचारे ने स्वीकार कर लिया। विवशते! तुम्हारी महिमा अपार है!! तुम जो चाहो कर सकती हो। मर्य्यादा को नाश करना तुम्हीं को सुगम है!!

अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। चम्पत वनलता के पास जा रहा है। वनलता की उत्कट तपस्या द्वारा झुलसी हुई अधर्म की लता पनप चली। विफलता के फीके कुरूप मुख-मण्डल पर गुलाबी मुस्कराहट झलकने लगी। साथ ही उसके बढते हुए पगों के व्याघात से वायु मण्डल विक्षुब्ध हो चला। मर्य्यादा रसातल को चलने लगी। मनुष्यत्व कोने झाँकने लगा। वनलता का वन्दी-गृह आ गया। चम्पत ने कई प्रधान व्यक्तियों के साथ उसमें प्रवेश किया। इसके अतिरिक्त वहाँ, कुछ मनुष्य गुप्त रूप से पहले

से ही छिपा दिये गये थे। चम्पत ने आगे बढकर भर्राई हुई आवाज़ में पुकारा—"वनलता! बेटी वनलता!!"

वनलता इस चिरपरिचित बोली को सुनते ही दौडती हुई वहाँ गई। पिता के साथ कई अपरिचित व्यक्तियों को देखकर वह कुछ ठिठकी; किन्तु तुरन्त ही प्रेमावेश से लपककर उससे लिपट गई। लेकिन यह क्या? प्यार के बदले उसने दहकती हुई अग्नि के समान छुरी उसके कलेजे में भोंक दी। वह हलकी सी चीख़ के साथ पृथ्वी पर गिरकर छटपटाने लगी। उपस्थित व्यक्तियों ने उसे पकड़ना चाहा, उसने अपने आपको स्वयं समर्पण कर दिया। वे मुश्कें कसकर बाहर लाये। लोगों ने उसे ख़ूनी कहकर सङ्केत किया, किन्तु उनका अन्तःकरण उसके सम्मान के लिये झुक गया!

विना अभियोग एवं विचार के उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा हुई। अन्त समय तक किसी ने उसके मुख पर विषाद की रेखा नहीं देखी, प्रत्युत एक अपूर्व तेज से उसका चेहरा जगमगा उठा! गौरव से उसका मस्तक ऊंचा हो गया!! जिसने अधर्म के कलुषित वैभव को ठुकराकर मृत्यु को सहर्ष आलिङ्गन कर लिया हो, भला उसे गौरव क्यो न हो? उसने तो वह काम कर दिखाया, जिसके करने में पन्द्रवीं शताब्दी के प्रसिद्ध क्षत्रिय-नरेश महाराज मानसिह के बहुत से संबंधी भी असमर्थ रहे थे। किन्तु शोक! हा शोक!!

प्राचीन आर्य्य-आदर्श का जाज्वल्यमान उदाहरण समुप-स्थित करनेवाले एक कुटुम्ब का ऐसी दुर्दशा से अन्त हुआ। यद्यपि वे आत्माएं मृत्यु-लोक के कर्कश-जीवन से मुक्त हो गईं; किन्तु उनकी दिगन्त-व्यापिनी विमल-कीर्ति अनन्त काल तक अजर-अमर रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

पश्चात्ताप

[१]

एक दिन ऐसा होगा जब ज़मीन उड़कर आसमान को चली जायगी, और तारे टूटकर पैरों के नीचे कुचले जायँगे—इसी तरह की बातें बाबू दीनदयाल अक्सर कहा करते थे। वे जब हुक्का लेकर आराम कुर्सी पर लेट रहते, तो इसी तरह की गप-शप मे समय की बरबादी होती थी। तिस पर मज़ा यह कि मैं जब कभी राजू के घर जाता, तो दो-चार-दस मिनट उनके पास ज़रूर बैठता था।

दीनदयाल साढ़े सत्तरह दफ़ा एन्ट्रेन्स के इम्तहान में शरीक हुए, लेकिन गज़ट ने सदा धोखा ही दिया। न मालूम यूनीवर्सिटी के रेकर्ड-कीपर से लेकर परीक्षक तक क्या भाँग खाकर बैठते थे? वरना ऐसे योग्य और तत्त्वदर्शी

महापुरुष के लिये एन्ट्रेन्स कोई चीज़ नहीं। उनके स्वभाव के साथ आलोचना मिलकर एक हो गई थी। लेकिन यह ख्याल रहे कि उनकी आलोचना का विषय आज कल के लेखकों की तरह तुलसीदास सूरदास नहीं होते थे, बल्कि होती थी चाय की वह प्याली या पान का वह बीड़ा—जिसे सरोजिनी लाकर अपनी बालेपन की अजीब अदा से उन्हें पकड़ा देती थी। वे पूछते थे—सरोज! कल पान ने बड़ी ख़ुश्की की। मालूम पड़ता है महोबे का नहीं था?—तुझे तो पहचान हो गई हुगी? कल शायद तेरी भाभी ने अपने शऊर का छौंक लगाया था?

सरोज हँस देती थी, या मुस्करा देती थी, यह ठीक-ठीक याद नहीं आता, पर कुछ कर देती थी, जिससे मेरे हृदय में गुदगुदी मच जाती थी। सरोज सचमुच ग्यारह बरस से ज्यादा न थी।

सरोजनी से फ़ालतू वाग्वितण्डा रोज़ ही होता था। कुछ दिन में मुझे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे सरोजिनी की चाय के साथ मेरा चिरन्तन सम्बन्ध है। उसे एक दिन न पीने से जैसे मुझे कब्ज हो जाता है। बाबू दीनदयाल की फिलासफी में डारविन का विकासवाद, स्पेन्सर की ज्ञेय मीमांसा और काम्ट का समाज-विज्ञान सब जैसे आकर केन्द्रीभूत हो गये थे। इसीलिये कभी-कभी मैं बेहद उत्तेजित होकर यूनिवर्सिटी के अधिकारियों की बुद्धि का

आपरेशन करने लगता था। इस पर कई बार मेरे मित्रों में गर्मा-गरम बहस भी हो चुकी थी। उनकी राय में बा० दीनदयाल मालदार पिता की निकम्मी संतान थे। उन्हें वे सब मनकी और मनमौजी कहा करते थे। यह मुझे न मालूम क्यों सह्य न होता था।

[२]

इलाहाबाद से राजू के पास होने का टेलिग्राम आया। मैं दौड़कर अपने कमरे में किताबों के ढेर के पास लेट गया। जानता था कैफियत तलब होगी। अनुमान में ज़रा भी फर्क नहीं पड़ा। छम-छम करके भाभी ज़ीने पर चढ़ आईं। बहन, बुआ सभी के पैरों की आहट और बातचीत मेरे कानों में पड़ रही थी। पिता जी नीचे मौसी से शायद इसी सम्बन्ध में कुछ चर्चा कर रहे थे। क्षण भर में मैं जैसे हिरासत में ले लिया गया। द्वार के पास ही-ही, हू-हू होने लगी, जो मेरे हृदय में बर्छी की नोंक की तरह छिदती थी।

भाभी किवाड ठेलकर आईं, और मेरे शिथिल पड़े हुए शरीर में मीठी चुटकी लेकर कहा—आठ बजना चाहते हैं, उठकर ज़रा मुँह हाथ धोलो। अब स्कूल नहीं जाना पड़ेगा, लाला जी। कालेज में जाकर पढना। सुनती हूँ, वहाँ ख़ूब मज़े रहते हैं।

मैंने करवट बदलकर आँखें मलते हुए कहा—नहीं, मुझे मज़े नहीं चाहिये। जाओ, सोने दो।

बहन ने आकर कहा—भय्या! अभी तक सोने के लिए ही झगड़ रहे हो। ज़रा उठकर चलो तो, पिता जी पुकारते हैं। राजू के पास होने का तार आ गया है, ज़रा जाकर देखो तो तुम्हारा क्यों नहीं आया?

मैंने जिस मेहनत से पढा था, उसके अनुसार तार मँगाना पहले सिरे की बेवकूफ़ी थी। लेकिन इसका कोई ठीक-ठीक बहाना भी तो नहीं था, आखिर मजबूर होकर मैं उठ बैठा। तीन बार शरीर को तोड-मोड़ कर अँगड़ाई ली और आश्चर्य प्रगट करके पूछा—राजू का तार आ गया और किसी का नहीं?

बहन—यही तो पिता जी पूछ रहे हैं, ज़रा जाकर देखिये तो सही।

मैं बहुत देर तक इधर-उधर करने के बाद नीचे गया। उस समय पिता जी घर में न थे। कहीं बाहर चले गये थे। मौसी से दो एक बातें करके मुँह हाथ धोकर मैं बाहर निकल गया।

मैं नजर बचाकर जा रहा था। आज सच-मुच किसी से बात करने को जी नहीं होता था, पर बाबू

दीनदयाल क्यों मानने लगे। अपने कमरे से ही पुकारा—किधर चुपके-चुपके निकले जा रहे हो?

मैं जैसे भूलकर चला जा रहा था, ऐसा भाव दिखा कर रुक गया और ज़बरदस्ती होठों पर हँसी लाकर उनकी बैठक में दाखिल हुआ।

बाबू दीनदयाल लखनऊ के खमीरे की बानगी का मज़ा ले रहे थे। एक दम खींचकर दूसरी ओर धुएँ को छोड़ते हुए बोले—पांच मिनट देर से आये। सरोज! चाय खतम हो गई तो शर्म की क्या बात? पान ही लाकर दे। एक की जगह दो सही। लेकिन यह मैं मानता हूँ आज की चाय थी बेहद जायकेदार। गोविन्द! यह बात तुम्हें माननी पडेगी कि मेरी बातों पर ध्यान देने से सरोज बड़ी सलीके की हो गई है।

पान को लेकर मैंने कहा—आज माफ़ कीजिये। मैं ज़रा राजू के मकान तक जा रहा हूँ।

बाबू दीनदयाल ने कहा—सरोज बेटी तू कहती थी न कि राजू का तार आया है? वह पास हो गया है, क्यों?

सरोज—हाँ, वही तो भय्या कहते थे—यह कहकर सरोज ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, कुछ पूछा नहीं। पूछने की ज़रूरत भी न थी। उसके मूक संकेत की लिपि पढ़ने में मैं काफ़ी होशियार हो चुका था, लेकिन इसका उत्तर मेरे पास क्या था।

मैंने बाबू दीनदयाल की ओर मुँह करके कहा—यही पता लगाने तो जा रहा हूँ।

दीनदयाल—हाँ—हाँ, जरूर! मुझे भी लौटकर खबर देना।

[३]

राजू के घर पर पूरी मित्र मंडली जमा थी, यह खबर मुझे बाहर ही नौकर से मिल गई। उसने यह भी बतला दिया कि बछिया के ताऊ रामू-श्यामू को छोड़कर मुहल्ले के सभी लड़के पास हो गये हैं—उसने ज़रा गम्भीर बन कर मुझसे पूछा—बाबू आपका नतीजा तो अच्छा रहा?

मैंने कहा—अभी कुछ पता नहीं। और मैं जल्दी से अन्दर चला गया। सब लोग जैसे मेरी ही बात चीत कर रहे थे। मेरे पहुंचते ही क्षण भर को सन्नाटा छा गया। राजू ने कहा—आइये, मालूम हुआ था, आप आज भी चाय का लालच नहीं छोड़ सके? कहो तुम्हें कुछ मालूम हुआ है?

मैं—जो बात पहले ही से मालूम है उसके लिये मैं व्यर्थ परेशान नहीं होना चाहता। पास न होने से भूखों मर जाना पड़ेगा, जिसे यह डर हो वह पढ़-पढ़कर शरीर को खपाया करे।

विजय ने व्यंग्य कर कहा—भूखो मरने का डर न भी हो तो उस्ताद से बढ़ जाने का डर क्या थोड़ा होता है। मेरी भी यह सलाह है गोविन्द बाबू कि शागिर्द को उस्ताद के क़दम पर ही क़दम बढ़ाकर चलना चाहिये, और फिर ऐसे उस्ताद जिनके ज्ञान-भंडार में विश्वकोष की पूरी फायलें सुरक्षित हैं। उनसे बढ़ने की कोशिश करना ख़ामख़्याली नहीं तो और क्या है ?

मैं—उसके कहने की ज़रूरत नहीं। मैं तो पहले से ही इसी मत का हूँ। अगर तुम्हारे कहने के ढंग से व्यंग्य निकाल दिया जाय तो मेरे तुम्हारे विचार में रत्ती भर अन्तर न रहे।

विजय—मैंने व्यंग तो किया नहीं। जिसने व्यंग किया उससे तो आप कुछ कहने का साहस भी न कर सके। कमज़ोर के सिर पर हाथ मारने की प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं होती।

सब लोग हँस पड़े, लेकिन मैंने उसी तरह साधारण भाव से कहा—अगर तुम्हारा वह भाव नहीं था, तो कोई बात ही नहीं। लेकिन और किसने क्या कहा था, वह ज़रा सुनूँ ?

विजय—मैंने इस सब का ठेका तो ले नहीं रक्खा है। राजू की ओर मुँह करके कहा—भई ! अब क्यों नहीं कहते हो ? किस की चाय का लालच नहीं छोड़ सके ?

विजय के अकारण क्रोध का पूरा रहस्य पलक मारते ही मेरी समझ मे आ गया। मुझे उसकी मोटी अक़्ल पर बड़ी हँसी छूटी लेकिन उस भाव को दबाकर ज़रा बनावटी क्रोध दिखाकर कहा—विजयबाबू! अगर एक बार आप भी पी पाते तो फिर ज़बान को क़ाबू में रखना कठिन हो जाता।

विजय हण्टर की सी चोट खाकर तिलमिला गया। बड़े आवेश में आकर बोला—अगर मुझे पीना होगी तो आपको सलाह या सिफ़ारिश की जरूरत न पड़ेगी; लेकिन एक भद्र परिवार की चर्चा इस तरीक़े से करना सभ्यता नहीं है।

मैं—ख़ैर उसका उत्तरदायित्व मैं अच्छी तरह समझता हूँ। इसके अलावा मुझे उनके विषय में कोई भी बात कहने का अधिकार है।

विजय—अधिकार है? गोविन्द! मैं नहीं समझता था कि परमात्मा ने तुम्हारे हिस्से की सारी बुद्धि का किसी दूसरी जगह उपयोग किया है। ऐसे अशिष्ट व्यक्ति के साथ बात करना भी मैं अपनी शान के खिलाफ़ समझता हूँ, लेकिन इतनी बात तुम्हें याद रखनी चाहिये कि तुम यह सब उचित नहीं कर रहे हो।

विजय मित्रों के अनुरोध को न मानकर जल्दी से

बाहर चला गया। सबने, राजू को छोड़कर मेरा ही कुसूर समझकर मन ही मन मुझे दोषी ठहराया, पर किसी ने कुछ कहा नहीं।

सरोजिनी के साथ विजय की सगाई की बात मेरे ही सामने बाबू दीनदयाल के इजलास में पेश हुई थी। विजय और महेश दो उम्मेदवारों की अर्जियाँ विचारार्थ उपस्थित थीं। लेकिन बाबू दीनदयाल ने उस समय टाल दिया, कहा—अभी जल्दी क्या है? सरोज के अभी खेलने के दिन हैं। अभी से अपनी पसन्द को सीमाबद्ध कर देना मैं ठीक नहीं समझता। बेटी, तेरा जी आज कुछ खराब है? अच्छा, जाकर भाभी से चार बीड़े पान तो ले आ। क्यों गोविन्द! अभी सरोज क्या बूढ़ी हो गई है?

श्यामाकांत, सरोजनी के भाई, पिता की लापरवाह तबियत को खूब जानते थे, फिर भी उस समय उन्होंने विरोध नहीं किया। वे दुनियादार आदमी थे। चुपचाप घर में जाकर स्त्रियों से सलाह करके स्थिर किया—सरोज का रुख देखकर काम किया जाय। जहां जहां बातचीत की है; उन लड़कों को बुलाया जाय। सरोज जिसे पसन्द करे, उसी से पक्का कर दिया जाय।

बाद को विजय की एक एक बात मुझे संगत जंचने लगी। मैंने सोचा—सारा साल बुड्ढे दीनदयाल के

साथ मैंने व्यर्थ ही बरबाद कर दिया है। सचमुच मेरे ऊपर उनका असर पड़ गया है। क्या मैं भी कभी ऐंट्रेन्स पास नहीं कर सकूंगा? घरवालों को अभी भी कुछ भरोसा है, पर दो दिन बाद नतीजा आ जायगा। तब क्या जवाब दूंगा। विजय का यह कहना सच है कि उसका मेरे साथ बातचीत करना उसकी शान के खिलाफ है और सरोजिनी की नजरों में भी क्या मैं गिर न जाऊंगा? उस समय अधिकार की बात मेरे मुंह से क्यों कर निकली? वास्तव में मेरा क्या अधिकार है?

[४]

ताज्जुब ही कहना चाहिये, मैं सैकण्ड-डिवीज़न मे पास निकला। स्कूल भर मे कुल तीन लड़कों ने वह डिवीजन पाई थी। पिता जी ने गर्व और ख़ुशी से मेरी ओर देखा पर मेरा दिल बराबर धड़क रहा था। मैं यही समझता था, रौल नम्बर गलती से छप गया है। जब तक गज़ट नहीं आया मैं बराबर बेचैन रहा, जो एक डर लगा हुआ था उसकी वजह से मेरी सारी ख़ुशी दब गई। अच्छी तरह गजट देखकर आया तो जान में जान आई, पर दिल में यह बात ख़ूब जँच गई कि बहुत से पास फेल भी हो जाते हैं।

घर में पहले ही से चर्चा चल पड़ी थी, कि मैं इलाहाबाद

जाकर पढ़ूं या आगरे में ? आते ही मुझसे सवाल पर सवाल होने लगे, पर मैंने उन पर ध्यान न दिया। आज मैंने रास्ते में ही अपनी की हुई उस दिन की प्रतिज्ञा को हिला-झुला कर शिथिल कर दिया था। मैंने सोच लिया था—अब तो यहाँ से जाना ही है। अगर इतने दिनों में कुछ नहीं विगड़ गया है तो अब बीस-पचीस दिन में क्या हो जायगा ? क्यों व्यर्थ अपने मन को बंधन में जकड़ डालूं ? अगर बाबू दीनदयाल मेरे मन का हाल जान जायें, तो क्या कहेंगे ? सरोज क्या सोचेगी ? क्या उनके ही यहाँ बैठने से मेरा भविष्य विगड़ सकता है ? अगर ऐसा ही होता तो मैं पास क्यों कर हो जाता ? बस, जब तक हूँ तब तक बराबर उसी तरह सब जगह जाना-आना रहेगा। मैंने घर में सब लोगों से कह दिया—देखा जायगा। जैसा तय होगा वैसा करूँगा। अभी क्या जल्दी पड़ी है।

उस दिन मैं जल्दी से निकलकर बाबू दीनदयाल के दरवाज़े पर जा पहुंचा। बैठक बन्द थी। खटखटाकर खड़ा हो गया। नौकर आकर मुझे ऊपर ले गया। ऊपर पहुँचने पर बैठक बन्द होने का कारण मेरी समझ में आ गया। विजय बाबू आज सरोजिनी के हाथ की चाय पीने आये थे। वे बहुत .खुश होकर कह रहे थे—आगे चलकर वे सरस विषय लेंगे। ठीक इसी समय मैंने कमरे में पैर रक्खा। बाबू दीनदयाल ने कहा—ओहो ! गोविन्द ! पास

होने की .ख़ुशी में मालूम पड़ता है मिलने जुलने को स्थान नहीं रह गया ?

मैं – पास होने का ख्याल भी न था और पास होगया इसलिये .ख़ुशी तो और कुछ लोगों से .ज्यादा ही है, पर मिलने जुलने मे वह बाधक हो यह बात नहीं है ।

दीनदयाल—ख़ैर-ख़ैर जाने दीजिये। लीजिये अपनी प्याली उठाइये । आज तुम्हें सरोज की कुशलता की तारीफ करनी पड़ेगी ।

मैं उठाकर चाय पीने लगा । बाबू दीनदयाल ने विजय की ओर इशारा कर पूछा—क्यों, क्या पसन्द नहीं आ रही है ? आप शायद काफ़ी पसन्द करते हों। बोलिये वही तैयार कराई जाय । यह सब चुटकुले मैंने सरोज को बता दिये हैं।

विजय ने हँसने का प्रयत्न कर कहा—पसन्द क्यों न आयेगी ? ऐसी चाय तो मैंने बहुत कम पी है ।

सरोज पास ही बैठकर पिता जी पर भौंहे टेढीकर सिकुड़ती जा रही थी । मैंने उसकी ओर देखकर हँसी दबाकर कहा—भई कुछ भी हो मुझे झूठी तारीफ़ करना तो आती नहीं है। मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं आई । चीनी की जगह मालूम पड़ता है नमक छोड़ा गया है और उसमें भी किफायत की गई है ।

मेरी बात को सुनकर सब लोग खिलखिला पड़े ।

सरोज तो हंसी के मारे बेदम हो गई। केवल विजय तिरछी-तीखी नज़र से मेरी ओर देखकर भव्य और गम्भीर बना रहा।

शान्त होते ही बाबू दीनदयाल ने अपनी कुर्सी पर लेटकर पूछा—गोविन्द! तुमने तो इलाहाबाद जाना ही तय किया होगा?

मैं—अभी तय-वय नहीं किया लेकिन शायद मैं वहीं जाऊँगा।

दीनदयाल—यह तो मेरा भी ख़्याल था। मैं भी इरादा कर रहा हूँ। कुछ दिन प्रयाग में रहना चाहता हूँ। सरोज तो यह सुनकर बहुत ही ख़ुश हुई है, कि वहाँ भी हम लोग मिल सकेंगे। पहले तुम्हारा पास होना उसे इसी-लिये बुरा लगा, कि तुम पढ़ने बाहर चले जाओगे। लड़की भी कैसी पगली है?

इसके बाद ही सभा बरख़ास्त हुई। विजय बाबू को भेजकर हम सब लोग रोज़ की बैठक मे जा बैठे।

दूसरे-तीसरे ही दिन शायद लड़केवाले की तरफ़ से इनकार हो गई।। विजय ने इसका मूल कारण मुझे ही समझा था तो बेजा नहीं किया, पर उसमें मेरा हाथ रत्ती भर नहीं था। बल्कि बहुत दिनों तक तो मुझे उसका पता भी न चला।

(५)

मैं आकर इलाहाबाद में पढ़ने लगा। विजय आगरे चला आया। कुछ दिन बाद बाबू दीनदयाल, सरोजिनी और अपनी बहन सावित्री को लेकर प्रयाग पहुंचे। कई दिनों तक मुझे फिर सरोजिनी के हाथ की मिठाई-पान और चाय नसीब हुई। वे दिन बड़े मज़े से बीते।

उसके बाद वे बनारस जाने की तैयारी करने लगे। वहाँ से अयोध्या, लखनऊ होकर फिर मैनपुरी लौट जाना चाहते थे। मैं उन्हें स्टेशन पर लेजाकर गाड़ी में बिठाल आया। लौटते समय सरोजिनी ने दो बीड़े मुझे दिये। गाड़ी चल दी। उसने खिड़की में सिर डालकर मेरी ओर कितने ही आँसू गिरा दिये।

आँसुओं से मेरी आँखें भी तर हो रही थीं। मैंने कहा—रोती क्यों है पगली? जब तक तू घर पहुँचेगी, मैं भी पहुच जाऊँगा।

वे दोनों बीड़े चबाता हुआ मैं प्लेट-फ़ार्म से निकल आया। बाबू दीनदयाल मुझे एक बड़े उत्तरदायित्व का काम इस बार दे गये थे। उन्होंने कहा था—सरोज के लिये सुपात्र वर की खोज करके लिखना।—मैं आकर देख लूँगा, फिर सब तय कर दूंगा। श्यामकान्त की इच्छा है, यह कार्य जल्दी ही हो जाय।

सरोज वास्तव में लड़की नहीं देवी थी। रूप-गुण उसने

जैसे कुछ पाये थे, वैसा ही सरल और मधुर स्वभाव भी। उसक भविष्य-जीवन की नाव का डाँड़ किस माँझी को दिया जाय, यह सोच लेना सहज नहीं था। तिस पर सरोज को मैं अनन्य स्नेह की दृष्टि से देखता था।

मैंने अपने सारे काम छोड़कर साइकिल उठा ली। एक-एक कालेज, एक-एक होस्टेल छान डाला। इधर-उधर अनेक मित्रों से मिला, अनेक लड़के देखे। मुझे केवल दो लड़के पसन्द आये, एक थर्ड-ईयर में था, दूसरा बी० ए० में। इनमें भी थर्ड ईयर वाले लड़के को मैंने विशेष रूप से चुना। उसका परिवार उन दिनों प्रयाग में ही था। पता लगाया, मिला। सब बातें जैसी मैं चाहता था, वैसी ही मिल गईं।

मैंने उसी दिन तार देकर दीनदयाल बाबू को बुलाया। वे आकर शादी पक्की कर गये। उन्हें लड़का बहुत पसन्द आया—उस दिन मैं खुद भी अपनी व्यवहार-कुशलता पर मन ही मन गर्व करके ख़ुश हो उठा। मेरे मन में सरोजिनी के भविष्य की सुखमय कल्पना का मधुर आभास अंकित हो गया, मेरी हृदय-वीणा के किसी तार में गुप्त रूप से हर्ष का कंपन प्रतीत होने लगा।

शीघ्र ही, सरोज के व्याह का गुलाबी निमंत्रण-पत्र मेरे पास आ गया। हृदय में जैसे हर्ष की एक

लहर आकर आरपार हो गई। उसका सम्बन्ध मैंने ही तो स्थिर किया था। खोलकर पत्र पढ़ा। ब्याह की तारीख इतनी जल्दी रक्खी गई है! एक बार घर से लौटकर अचानक इतनी जल्दी घर जाना पड़ेगा—यही सब सोचते सोचते किसी तरह मैंने वह दिन बिताया। दूसरे ही दिन एक्सप्रेस से चल दिया। उस दिन मेरे मन में कितना उत्साह था, कितना हर्ष था यह बयान नहीं हो सकता। मैं यही सोच रहा था, कि कब जाकर सरोज से मिलकर कहूँ कि, देख! मैंने तेरे लिये कितना सुन्दर-सावर तलाश किया है?—उसके एवज़ में मुझे एक बार अच्छी तरह से बनाकर चाय तो पिला दे।

सरोज का पाणिग्रहण संस्कार हो गया। उसके बाद मौक़ा पाकर मैंने अपनी शिकायत जाकर उसे सुनाई। उसने हँसकर मुँह छिपा लिया। चाय न पीकर भी उसकी हँसी में जो कृतज्ञता की झलक थी उसने मेरे हृदय को अपरिमित सतोष से भर दिया।

प्रसन्नता के उसी आवेग में मैं बाहर आया तो, डाकिया मेरे नाम की रजिस्ट्री चिट्ठी लेकर खड़ा हुआ था। मैंने दस्तखत करके लिफाफा खोला और पढ़ने लगा। चिट्ठी विजय ने आगरे से भेजी थी। उसने लिखा था—"तुम घर ही पर होगे, सरोज का ब्याह है न? बस इसीलिये वहीं के पते से लिख रहा हूँ। भाई, बहुत

कुछ उचित-अनुचित कर चुका हूँ। यदि मैं पहले से जानता कि तुम सरोज को क्या समझते हो, तो यह ग़लती न होती। ख़ैर, क्षमा करना—पर एक बात कहूँगा, अगर तुम्हें यही करना था, सरोज को तुम किसी दूसरे ही को सौंपना चाहते थे, तो मैं उतना बुरा न था। पर यह सब कैसे कहूँ? मैंने उसके वर को नहीं देखा है, देख भी नहीं सकूंगा। जब तुमने और सरोज ने ही मुझे इस योग्य नहीं समझा है, तो मैं भी नहीं समझना चाहता हूँ, पर दिल टूट गया है यह सब समझ नहीं सकता—खैर, मेरी भूल को क्षमा तो कर ही देना, आशा है अवश्य कर दोगे। और चाहे कुछ हो तुम इतने कड़े दिल के कभी नहीं हो सकते कि इसके बाद भी मेरे नाम को कोसा करो।

पत्र को पढ़कर मैं सन्न रह गया। मेरे सारे शरीर में जैसे रक्त का प्रवाह एकाएक रुक गया। मैंने मन ही मन कहा—यदि पहले नहीं जता सका था तो कम्बख़्त एक दिन पेश्तर तक चिट्ठी लिख देता, क्योंकि श्यामाकान्त इस विवाह में आदि से अन्त तक खिन्न थे।

———

क्रान्ति

[१]

राम झरोखे बैठि के, सबको मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसो ताकौ देय॥

सीताराम, बाबा! सीताराम—थोड़ा उपकार कर दे। जगन्नाथ स्वामी तुझे बहुत कुछ देंगे—यही शब्द थे जो गोपाल और रामू के कानो में गूँज गये और एक जटाजूट-धारी संन्यासी कमडल मृगछाला लिए आकर द्वार पर खड़ा होगया।

गोपाल ने जेब से एक इकन्नी निकाली और बाहर फ़र्श पर फेंक दी। बैरागी ने घूमकर उसे उठाया और वसुन्धरा को रौंदता हुआ चला गया।

रामू ने गोपाल की ओर देखकर कहा—भाई ! आज-कल ख़ैरात करने का कोई विशेष कारण है क्या ?

गोपाल ने मुस्कराकर जवाब दिया—विशेष न सही, तब भी ख़ैरात करना जुर्म नहीं है।

जुर्म न होने से भी कुछ काम नहीं किये जाते। हर काम करने में विचार की ज़रूरत पड़ती है। मनुष्य के पास जो स्वभाविक तर्कबुद्धि है, उसकी सृष्टि इसीलिए हुई है कि भेड़ों की तरह आँख मूंदकर किसी परम्परा का अनुसरण नहीं करना चाहिए।—रामू ने कुछ रुष्ट होकर कहा।

गोपाल को हँसी आगई। उसने खिलखिलाकर उत्तर दिया—बुद्धि इतनी सस्ती चीज़ भी नहीं है, कि फ़क़ीरों को भीख देते वक़्त भी उसका उपयोग किया जाय। इस तरह बात-बात मे उसका अपव्यय करके कोई बुद्धिमान् कहला सकता है, इस पर मुझे क़तई विश्वास नहीं है।

जो बुद्धि इतनी उथली और मन्द है कि वह मेरे आशय की गहराई को नाप नहीं सकती, उसे बुद्धि कहना ही भारी दुर्बुद्धि है—रामू ने भी हंसकर कहा।

गोपाल—पर जिस आशय में केवल गहराई ही गहराई हो, जिसके आधार का कहीं पता ही न हो, उसे नापने जाकर क्या बुद्धि भी गोता नहीं खाने लगती ? कहिए

कृपानिधान ! तुम्हारे कथन में यदि सचमुच कोई तथ्य है तो उसे सीधे-सादे शब्दों में कहिए। मैं सुनकर उससे कुछ लाभ उठाने की चेष्टा करूं।

रामू—मैं जबरदस्ती किसी व्याख्यान की रचनाकर उपदेश देना नहीं चाहता। बात सिर्फ इतनी-सी है कि जिस भीख को समर्थ आदमी इतनी लापरवाही से दे डालते हैं उसके विषय में सोचना तक नहीं चाहते, चाहे जैसा उसका दुरुपयोग हो, इससे उन्हें कोई वास्ता नहीं रहता। याचक उनके उन्हीं पैसों से चाहे जहर खरीदकर एक हजार प्राणियों को समाप्त कर दे, वे उसे पुण्य के पथ में जमा हुआ ही समझते हैं। वास्तव मे अधिकाश पाप-पुण्य का उत्तरदायित्व उन पर रहता है, जो इस तरह पात्रापात्र की पहचान किये बिना दान दे डालते हैं। जो धन किसी विधवा के बच्चों को भोजन देकर आशीर्वाद का रूप धारण करता, वही ज़रा-सी लापरवाही से, चरस और गाँजा की चिलमों का धुआ बनकर उड जाता है, या और बहुत-सी गंदी बातों में व्यय होकर विषैले कीटाणुओं का उत्पादक बनता है।

गोपाल ने बीच ही में रोककर कहा—मानता हूं भाई, अब किसी तरह ख़त्म करो इस दास्तान को। जी ऊबने लगा है। कोई ऐसी चर्चा करो जिससे दिल ख़ुश हो।

रामू ने हँसकर कहा—अच्छी बात है इसे जाने दीजिए। हाँ तो, अब यह बतलाइए कि इस तरह अहल-दिली से ख़ैरात का क्या मक़सद है? किस ख़ुशी में यह सब हो रहा है। आज ही नहीं, कई दिनों से, दोस्तों की दावतें वगैरह क्यों हो रही हैं? मुझसे उड़ो नहीं, बच्चू! ठीक-ठीक कहो मामला क्या है?

गोपाल ने रूठी हँसी हँसकर झिड़कते हुए कहा—बड़े वहमी हो, बड़े दुष्ट हो, और बड़े ज़िद्दी!

और जो उपाधियाँ देनी हों दे डालो। यह उत्सव का समय है। मैं उन सबका स्वागत करता हूँ—रामू ने मुस्कराहट छिपाकर कहा—पर यह याद रखो कि आज तुम्हारे छिपाने से कोई बात छिपेगी नहीं। आज मैं रत्ती-रत्ती पूछ लूंगा, हर एक बात तुम्हारे मुँह से कहलाकर मानूँगा। बोलो, ठीक-ठीक कहो?

गोपाल ने हँसकर कहा—तुम झूठे हो। तुम्हारा दिल काला है। इसी से तुम दूसरों को झूठा समझते हो।

रामू खड़ा हो गया। मुस्कराकर दोनों हाथ जोड़कर माथे से लगाकर कहा—सत्यवादी जी महाराज! तो आपही कहिए। मैं विश्वास करूँगा।

गोपाल—वैसी कोई बात ही नहीं है। मैं जो कह चुका हूँ, कभी उससे पृथक् नहीं होने का। घर में चाहे जो होता

रहे उसका मैं ज़िम्मेदार नहीं, न उससे मुझे कोई मतलब। मेरा निश्चय अटल, अचल और दृढ है।

[२]

शादी के नाम से आज-कल के एक विशेष उम्र और एक विशेष श्रेणी के लडकों के भडकने की प्रथा है, ठीक उसी भाव से बिगडकर गोपाल ने एक निश्चय कर डाला था। जगली हिरन को फँसाने में जैसी दिक्क़तें पेश आती हैं, उनसे भी कहीं ज़्यादा परेशानी का सामना उसके घर-वालों को करना पडा था। लेकिन कोई यह नहीं जान पाया, कि चढती जवानी में ही वैराग्य का यह भाव कहाँ से आया?

गोपाल माँ-बाप का लाडला, दुलारा और ज़िद्दी लडका था। उसके मुँह से जो निकल जाता, वही उस घर का कानून था। किसी में इतनी क्षमता न थी जो उसका विरोध करे। उसकी ज़िद का क़ानून बडे से बडे विद्रोह को शान्त कर देता था। उसकी ज़िद पर घर के किसी आदमी का काबू न था—लेकिन एक ऐसा व्यक्ति भी था, जिसका लोहा गोपाल स्वीकार करता था, और वह था रामू।

वह क्षीण, कृश, दुबला-पतला, शान्त-सौम्य साधारण लड़का गोपाल को अजब तरह से वश में रखता था। वह जैसे चाहता, वैसे उसे चलाता। उसकी आँखों का इशारा गोपाल के लिए एक नियन्त्रण था। वे दोनों आपस में

विशेष भाव से मिले थे। मित्र के पास पहुँचकर गोपाल का विद्रोही मन शान्त हो जाता था।

अठारह बरस का लड़का शादी नहीं करेगा। यह समाचार घर के सभी लोगों की आलोचना का विषय हो उठा। माँ-बाप के तो सारे प्रयास पर पानी पड़ गया। सबने समझाया। हजार तरह से माँ ने फुसलाया। बाप ने अनुरोध किया, पर गोपाल विचलित न हुआ।

उसने माँ से स्पष्ट कह दिया—अगर बहुत तंग करोगी तो मैं घर से निकल जाऊँगा, मैं ब्याह की चर्चा सुनना नहीं चाहता।

कोई कारण नहीं, कोई सबब नहीं—पर सबको विवश हो जाना पड़ा।

[३]

माँ बेटे की दुर्बुद्धि सुधारने के लिए निर्जलव्रत करने लगी हैं।—इसी बात की मन ही मन मीमांसा करता हुआ गोपाल चुपचाप अपने कमरे में बैठा था। वह चाहता था कि माँ को मना ले, पर किस तरह? बगैर अपना प्रण तोड़े हुए? यह असम्भव था। बुढ़ापे का दुर्बल शरीर और निर्जल-व्रत! उनके सूखे हुए मुख की यादकर वह छटपटा रहा था। उसी समय रामू घबराया हुआ, उसके कमरे में आया। उसने आते ही जोर से कहा—भैया गोपाल! एक काम कर सकोगे?

गोपाल—क्या ?

रामू—बसन्तकुमार का तार मिला है। उसकी मा घर पर बीमार है। तुम दो दिन के लिए चले जाओ, तीसरे दिन सुबह को मैं आकर तुम्हें फुर्सत दे दूँगा। आज मुझे कई बहुत जरूरी काम पड़ गये हैं; नहीं तो मैं खुद ही चला जाता—बोलो, जा सकोगे ?

गोपाल कई दिन से घर के विपरीत वातावरण से व्याकुल हो गया था। वह ऐसे ही किसी सुयोग की फ़िक्र में था, जहा जाकर वह अपनी चिन्ता शान्त कर सके। उसने हंसकर कहा—कोई हर्ज नहीं, मैं तैयार हूँ, पर मैं मरीज़ की शुश्रूषा कर सकूंगा, यह तुम्हें स्वयं सोच लेना चाहिए—क्योंकि बुढ़िया को रोक रखने के लिए उसका लड़का बहुत व्यग्र मालूम होता है। वह इतनी फालतू नहीं प्रतीत होती कि लावारिस माल की तरह मौत के दूतों की प्रतीक्षा में छोड़ दी जाय।

रामू—हा, कम से कम तुम्हें मैं मौत का दूत नहीं समझता इसी से तो कह रहा हूँ। यदि वह फालतू होती तो तुम्हें भेजने की ज़रूरत ही क्या थी ?

गोपाल—अच्छी बात है; तब मुझे कोई इनकार नहीं।

[४]

गोपाल का बसन्तकुमार से परिचय तो था, पर उसके घर वह कभी गया नहीं था, लेकिन रामू ने चलते वक्त

उसे ऐसा पता बता दिया था कि बग़ैर किसी से पूछे वह दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ। द्वार बन्द था। वह किसे पुकारे; चुपचाप खड़ा होकर सोचने लगा। ऐसे असमञ्जस में वह पहले शायद कभी न पड़ा था।

उसे खड़े हुए एक मिनट से ज़्यादा न हुआ होगा कि दरवाज़ा खुला और एक बारह-तेरह साल की लड़की बाहर निकल आई। उसने निस्संकोच भाव से कहा—चलिए, अन्दर चलिए। दादा ने आपको व्यर्थ ही तकलीफ दी है। माँ की तबीयत तो अब अच्छी है।

गोपाल कठपुतली की तरह आगे-आगे चला। उसके मुँह से एक भी शब्द न निकल सका।

लड़की ने घर के बरामदे में पहुँचते ही कहा—माँ, लो रामू दादा आ पहुंचे हैं। मैंने कहा था न, कि वे सुनते ही चल दिये होंगे।

गोपाल मन ही मन संकुचित होगया। उसने धीरे से कहा—रामू—रामू को छुट्टी न थी। एक बड़ा ज़रूरी काम आ पड़ा था। इसलिए मुझे भेज दिया है। वे परसों सुबह आवेंगे।

शाम की धुँधली छाया में लड़की पहचान न सकी थी। जब उसने गोपाल का अपरिचित कण्ठ-स्वर सुना तब एक बार चकित-भाव से उसकी ओर देखा, और लजाकर एक ओर भाग गई।

वसन्त की माँ ने गोपाल को अपने बिस्तर के पास ही कुर्सी पर बिठाकर बातचीत शुरू की। थोड़ी देर में पुकारा—हेमा, चल तो क्या करती है?—पर हेमा का कहीं पता न था। वह किसी किवाड के पीछे छिपी हुई, अपनी बेवकूफी पर शर्म से गडी जा रही थी।

बार-बार बुलाने पर वह निकली पर उसकी सारी चपलता लज्जा में परिणत हो गई थी। माँ ने कहा—जैसे रामू दादा हैं, वैसेही यह भी तेरे दादा हैं। तू शर्माती क्यों है, बेटी?

हेमा ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप सिर नीचा किये खड़ी रही।

तीसरे दिन रामू भी आगया, पर अब जरूरत किसी की न थी। बुढिया सकट से निकल चुकी थी। उसी दिन शाम को वे दोनों घर वापस लौट चले। इस दो दिन के प्रवास के बाद ही अगर कोई गोपाल से पूछता तो उसकी प्रतिज्ञा की जड हिल चुकी थी। उसके सीधे-सादे, सरल और मौलिक जीवन मे हेमा न जाने कहाँ से आगई? जबरदस्ती उसके मन पर आसन जमा दिया। गोपाल अपनी प्रतिज्ञा से मन ही मन खिन्न-सा प्रतीत होने लगा।

[५]

गोपाल ने अपना विचार बदल दिया, इसका कारण औरों के निकट चाहे जो रहा हो, पर उसकी माँ तो उसे व्रत

का ही प्रभाव समझती थीं। खैर, जो हो, लड़के को इस तरह सीधे रास्ते पर देखकर उनकी .खुशी का अन्त न था। उनके रोम-रोम से आनन्द की दीप्ति निकलती थी। तमाम घर में खासी चहल-पहल नज़र आने लगी। एक तरह का उत्सव-सा मनाया जाने लगा।

गोपाल माँ के सामने सारी बातें स्वीकारकर एक प्रकार से निश्चिन्त-सा होगया था। फिर भी एक विशेष चिन्ता और स्मृति उसका मन चञ्चल किए हुए थी। वह हर समय एक ही प्रकार की उधेड़-बुन में रहता था।

कई दिन बाद .खुशी-.खुशी घर से निकलकर वह रामू की तरफ गया। रामू एक योजना तैयारकर रहा था। जब से वह वसन्तकुमार के घर से वापस आया था, उसे एक मिनट की .फुरसत न थी। उसे जरा भी पता न था कि गोपाल की प्रतिज्ञा ने दूसरा ही रूप धारण कर लिया है।

ज्यों ही गोपाल उसके सामने पहुंचा, रामू ने चिल्लाकर कहा—आओ; तुम्हारी सहायता की मुझे सख़्त जरूरत है। उसने एक कापी के पन्ने उलटकर कहा—मेरे जीवन का तमाम परिश्रम, मेरे मस्तिष्क की समस्त प्रतिभा, इन पन्नों मे मौजूद है। इस पुस्तक का एक-एक पृष्ठ वह दर्पण है, जिसमें समस्त देश की दशा प्रतिबिंबित है। इसमें समस्त विद्वानों, नेताओं और देश-प्रेमियों की योजनाओं पर विचार है। आज देश को, राष्ट्र को और समाज को किस चीज़

की ज़रूरत है ? वह कौन-सी संजीवनी सुधा है जो हमारे मृत और शिथिल अवयवों मे जीवन की बिजली दौड़ा दे ? हमारे महत् उद्देश की पूर्ति में सहायक हो। हम न केवल अपने देश की हित-कामना का ख़याल करते हैं, बल्कि इस समय हमारे सामने समस्त विश्व की समस्या उलझी हुई पड़ी है। हमारा अंतिम और सर्व-प्रथम यही ध्येय है, कि 'दलित' और 'परतन्त्र', 'योद्धा' और 'विजेता' ये शब्द किसी जाति को और अधिक कलङ्कित न करने पावें। सम्पूर्ण भू-मंडल मे स्वतन्त्रता, समता, एकता का साम्राज्य हो।

गोपाल इस लम्बी-चौड़ी स्पीच से घबड़ा गया। वह यह सब सुनने की गरज़ से नहीं आया था। उसने कहा—नेताजी, आप भैंस के सामने वीणा क्यों बजाते हैं ? मैं तो यह सब सुनने का पात्र नहीं हूँ।

रामू ने किंचित् उत्तेजित होकर कहा—तुम जब उसके उपयुक्त नहीं थे, तब कभी मैंने तुम्हारे सामने उसकी चर्चा नहीं की। अब मैंने समझ लिया है कि तुम्हीं उसके सबे अधिकारी हो। तुम इस योजना को मुझसे भी अच्छी तरह सफल बना सकते हो।—उसने अपनी युवक-संगठन की विस्तृत योजना गोपाल के सामने रख दी।

गोपाल ने रामू के इशारे का भाव समझकर सिर नीचा कर लिया। उसे कुछ उत्तर देते न बन पड़ा।

उसके बाद थोड़ी इधर-उधर की गप-शप करके गोपाल अपने घर लौट आया। उस दिन और कोई बात नहीं हुई।

[६]

गोपाल बिस्तर से उठा भी नहीं था कि रामू ने आते ही कहना शुरू किया—ससार प्रलोभनों से पूर्ण है। उन्हें जीतना बड़ा कठिन है। जो उन्हें जीत लेता है, वह मनुष्य नहीं देवता हो जाता है'। क्योंकि यह एक-एक प्रलोभन पतन की एक-एक सीढ़ी है। साथ ही जो जितना ऊपर चढ़कर गिरता है वह उतना ही गहरा जाता है। इसी वास्ते मैंने पहले तुम्हें प्रतिज्ञा करने से रोका था। यह बड़ा कठिन व्रत है। सभी से निभ नहीं सकता।—लेकिन मित्र तुम बड़े भाग्यशाली हो, तुम जिस चीज को पाने के लिए गिरे हो, वह अद्‌भुत है, अलभ्य है—वह एक नहीं असख्य व्यक्तियों को उठा सकती है।—हेमा, सचमुच एक दहकती हुई चिनगारी है, वह बिजली की एक लहर है, वह अँधेरे में भी उजाला कर सकती है।—मैं बंकिम-बाबू की देवी चौधरानी से भी ऊँचे चरित्र की उससे तुलना किया करता था। देवी में जो कमजोरी थी, हेमा उससे दूर है। मैंने तुम दोनों को 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' से चुना था। उनकी दुर्बलताओं को मैं तुम लोगों मे नहीं चाहता था। लेकिन ख़ैर, अब भी मैं आशा करता हूँ—यदि वह कभी पूर्ण हो सके।—एक नि श्वास लेकर रामू चुप हो गया।

. गोपाल चुपचाप अपराधी की भाँति रामू की बातें सुनता रहा। एक बार वह इतना उत्तेजित हो उठा कि फिर से कोई प्रतिज्ञा कर डाले। पर कुछ सोचकर चुप रह गया। उसने केवल रामू से इतना कहा—मेरे नौकर को लेते जाओ। आज मुझे कुछ काम नहीं है, ज़रा अपनी योजना भेज देना। पढ़कर देखूँगा।

साथ रहकर भी साथी की योग्यता का पता गोपाल को न था। वास्तव मे रामू की विलक्षण योग्यता इस प्रकार सम्पन्न हुई थी कि उसके घर के लोग तक उसका अनुमान न कर सके थे। उसकी बुद्धि का यथार्थ परिचय केवल दो प्राणियों को सम्यक् रूप से था। उनमें एक पृथ्वी के दूसरे सिरे पर बैठा था, और वह था वसन्तकुमार। वास्तव मे रामू के अन्दर मौलिकता और विलक्षणता का अँकुर उत्पन्न करनेवाला वही युवक था। रामू की तमाम गति-विधि का रत्ता रत्ती हाल सात समुद्र पार उसकी डायरी में नोट होता था। दूसरी व्यक्ति थी हेमा। उसके जीवन पर रामू और वसन्तकुमार दोनो की शिक्षा का प्रभाव था। रामू तो सदा से ही उसका शिक्षक बनकर रहा था।

योजना पढ़कर गोपाल ने पहले-पहल अनुमान किया कि जिसकी तरफ़ अज्ञात रूप से वह सदा खिँच जाया करता था, वह वास्तव में सच्चा आकर्षक है। उसने

नेताओं के भाषण सुने थे, पत्रों की विवेचनायें पढ़ी थीं, कौंसिल के विवादों पर विचार किया था, पर ऐसी युक्ति-पूर्ण, ऐसी काम करने लायक़ स्कीम कभी उसकी दृष्टि में न पड़ी थी। एक छोटी सी योजना में समस्त सुधार केन्द्रित थे। चौतरफ़ा क्रान्ति का आयोजन बड़े सुन्दर और सरल ढङ्ग से किया गया था। उसमें सभी तरह के स्वराज्य की व्यवस्था थी। समाज का कौन पुरज़ा ढीला है, राष्ट्र की शृंखला कहाँ पर शिथिल है, व्यक्तियों के अधिकार की हत्या कहाँ-कहाँ होती है, इसकी सूक्ष्म विवेचना थी, तथा एक-दम चारों ओर से क्रान्ति करके सब प्रकार की विशृङ्खलताओं का अस्तित्व नष्ट करने के लिए दो दलों के संगठन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया था। एक था युवक-दल और दूसरा युवती-दल। दोनों के अलग कर्तव्य थे, दोनों के अलग अलग मार्ग। जाति, राष्ट्र और समाज की हर एक समस्या हल करने का यत्न किया गया था।

विषय की गम्भीरता के कारण गोपाल पूर्णतया उसे समझ तो न सका, पर उससे वह प्रभावित बहुत ही अधिक हुआ। वह सारे दिन उसकी आलोचना करने में ही लगा रहा।

[७]

चार साल बाद वसन्तकुमार घर आ रहा था। मित्रों,

साथियों, स्नेही-सम्बन्धियों सब में हर्ष की लहर उमड़ रही थी। लेकिन मातृ-भूमि पर पैर रखते ही वह गिरफ़ार कर लिया गया। उसी दिन समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक गिरफ़ारियों और तलाशियों की धूम मच गई। प्रधान-प्रधान नगरों और क़स्बों में हर जगह षड्यन्त्र की दुर्गन्धि का पता शासकों को मिलने लगा। साम्राज्य-वाद के विरोधियों को हिरासत में ले लिया गया। युवक-दल का प्रमुख नेता रामू भी गिरफ़ार हो गया। संसार के तमाम समाचार-पत्रों में एक सनसनी फैल गई।

देश में जब यह काण्ड हो रहा था, तब गोपाल के घर में व्याह की बड़ी बडी योजनाएँ हो रही थीं। उसके माता-पिता ने यह खबर लगा रक्खी थी कि हेमा का भाई विदेश से वापस आ रहा है। वही आकर उसका संबंध स्थिर करेगा, पर गोपाल इन दिनों एक नई ही रोशनी में आकर विचित्र असमञ्जस में पड़ गया था। इसलिए वसन्तकुमार की गिरफ़ारी से उसे कुछ संतोष ही हुआ, पर उसके घर में तो एक प्रकार का शोक-सा छा गया।

जिस समय षड्यन्त्र का केस आदालत में सुना जा रहा था, जब देश के कोने-कोने में गुप्तचरविभाग के कर्मचारी उसके सवध-सूत्र का पता लगा रहे थे, जब सभ्य और शिक्षित युवक जेल की वारिकों में साम्राज्यवाद की क्षय के नारे लगा रहे थे, तब गोपाल रामू की योजना का जी-जान से अध्ययन

कर रहा था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा था कि रामू के कार्य का सारा भार उसी के कंधों पर है।

उसने एक बार फिर अपने घर में आजीवन अविवाहित रहने की बात कहकर उथल-पुथल मचा दी।

षड्यन्त्र के मुक़द्दमें ने भीषण रूप धारण किया। हज़ारों की संख्या में गवाहों की सूची पेश की गई। सारे देश में असन्तोष की एक चिनगारी पड़ गई, पर गोपाल बिलकुल चुपचाप अपने कार्य मे लगा रहा। तीन महीने मे उसने पूरी तरह से उसका अध्ययन कर लिया। कार्य आरम्भ करने से पूर्व वह एक बार रामू से परामर्श करने गया।

गोपाल जिस समय रामू, वसन्तकुमार तथा षड्यन्त्र के के अन्य अभियुक्तो से मिला उस समय हेमा भी वहीं उपस्थित थी। गोपाल कार्य आरम्भ करने के लिए परामर्श करने आया था, पर हेमा आई थी अपने कार्य की सफलता की सूचना देने। उसने उसी दिन से कार्य आरम्भ कर दिया था, जिस दिन देश में गिरफ़ारियाँ हुई थीं। वह घरों के अन्दर, समाज और राष्ट्र की जन्मदात्री देवियों मे जाग्रति और क्रान्ति के बीज बोती थी। इन थोड़े से ही दिनों में उसने स्त्रियों का एक बड़ा दल तैयार कर लिया था। गाँव-गांव और घर घर उसका सदेश पहुँच चुका था।

गोपाल और हेमा दोनों को अपने नज़दीक पाकर रामू का हृदय गर्व से फूल उठा। उसकी आँखों में हर्ष और विजय के आँसू उमड़ आये। उसने कंठ-स्वर को सावधानी से सँभालकर कहा—वास्तव में अब तुम दोनों के जीवन की धारा एक होने जा रही है—मेरी आशा आज एक प्रकार से पूर्ण होगई।

गोपाल और हेमा दोनों ने चुपचाप सिर झुका लिया।

चलते समय वसन्तकुमार ने कहा—बहन और भाइयों के सहयोग से जो प्रयत्न होता है, उसी में कुछ सामर्थ्य होती है। भाई गोपाल! मैं तुम्हें बहन दे रहा हूँ।

रामू ने गर्व से पुलकित होकर कहा—बहन हेमा! मैं तुम्हें भाई दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है, अनाथ देश और असहाय राष्ट्र तुम दोनों से सनाथ हो जायगा।

इस प्रकार आशीर्वाद लेकर हेमा और गोपाल लौट आये। तब से दोनों एक दूसरे को सहायता और परामर्श देकर देश के कोने-कोने में युवक और युवतियों का दल सगठित कर रहे हैं। यद्यपि अभी गोपाल और हेमा को कोई नहीं जानता पर यह निश्चित है कि शीघ्र ही निकट भविष्य में, क्रान्ति की वह आँधी चलेगी, जब सभी कुछ उलट-पलट हो जायगा और सब लोग उन्हें जान जायँगे। कौन कह सकता है कि तब उनका सम्मान देवताओं के तुल्य न होगा?

प्रतिज्ञा

पहला दृश्य

[भीमसिंह और अमरसिंह]

भीमसिंह—भाई अमर! जाकर देखो तो कौन बाहर मेरी जयजयकार कर रहा है?

अमरसिंह—महाराज!

भीमसिंह—देखो, कोई याचक निराश न हो, कोई आश्रित अरक्षित न रहने पावे! अभी जाकर सब प्रबन्ध अच्छी तरह कर देना।

अमरसिंह—जो आज्ञा—पर महाराज के द्वार पर तो कोई पुकार नहीं रहा है।

भीमसिंह—तो मेरे कानों में यह ध्वनि कहाँ से आ रही है? क्या तुम्हें भी कुछ कम सुनने की आदत हो गयी?

अमरसिंह—महाराज आवाज़ तो आ रही है, पर आपके लिए नहीं, मेवाड़ के युवराज के लिए। बाहर की प्रजा युवराज के दर्शनार्थ पधारी है।

भीमसिंह—मेवाड़ के युवराज के दर्शनार्थ? मेवाड़ का युवराज कोई दूसरा है?

अमरसिंह—अन्नदाता! मैं तो आपके चरणों की रज हूँ! भला, मैं कब ऐसी धृष्टता कर सकता हूँ, पर इतना निवेदन करूँगा कि श्रीमान् के द्वार पर कोई नहीं है। आप ही मेवाड़ के मुकुटमणि, उसके गौरव-चिह्न, और एक मात्र भावी शासक हैं, किन्तु?

भीमसिंह—क्या किन्तु? अमर! तुम निःसङ्कोच होकर कह क्यों नहीं डालते? मेरे यह कान मोम के बने हुए नहीं हैं। मेरी यह भुजाएँ छुई-मुई की टहनियाँ नहीं हैं। मेरा हृदय द्रव पदार्थ का बना हुआ नहीं है। वे बड़े से बड़े आघात को सह सकते हैं। वे किसी प्रकार विचलित होने वाले नहीं हैं।

अमरसिंह—महाराज! आप मेवाड़ के पूज्य महाराना के पवित्र वंश के उत्तराधिकारी हैं, किन्तु महाराना ने आप का वह अधिकार जयसिंह को दे दिया है। जन्ममुहूर्त पर युवराज के बाहुमूल मे जो अमर दूब बाँधी जाती है, उसे महाराना ने आपके न बाँधकर जयसिंह के

बाँधी थी। महाराना का वह भेद-भाव ही आज मेवाड़ के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न कर रहा है। यही नहीं जयसिंह ने भी अपने आपको मेवाड का युवराज समझ लिया है।

भीमसिंह—तो भीमसिंह उसकी उस समझ को कुचल डालेगा। महाराना ने मेरे साथ जो अन्याय किया है, मेवाड की प्रजा के द्वारा अनुमोदित नियम को पदाक्रान्त किया है और इससे भी अधिक धर्म-शास्त्र की पवित्र मर्यादा का उल्लङ्घन किया है, उसका बदला मैं अपनी इस खड्ग से चुका लूँगा। महाराना को तनिक देर में पता लग जायगा कि उनके देने से कोई राज्य नहीं पा सकता, और न वे किसी का अधिकार ही मार सकते हैं। उन्हें शासन का अधिकार है, किन्तु अनियम-शासन का नहीं। जयसिंह के सुख-स्वप्न को मैं एक ही वार में काफूर कर दूँगा। जिस युवराज शब्द को सुनकर अभी उसका हृदय आनन्द से उछल पड़ता है, तनिक सी देर में उसे ही सुनकर भयभीत होने लगेगा।

अमरसिंह—महाराज, आपकी वीरता की प्रशसा शत्रु भी करते हैं। आप वीर शिरोमणि है, पर इस तरह प्रकाश्य रूप से विरोध करना उचित नहीं। आपको यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस कार्य का उपक्रम आपके जन्म-मुहूर्त्त में किया गया था, वह आज हर प्रकार से सुसङ्गठित कर

लिया गया है। न महाराना, न जयसिंह कभी इस बात को भूले हैं कि एक दिन वह आने वाला है, जब आपका विरोध खुले हाथों करना पडेगा।

भीमसिंह—यह सब कुछ जानकर भी मैं अनजान ही रहना चाहता हूँ। मुझे अपने बाहु-बल का भरोसा है मुझे धर्म पर श्रद्धा है। मुझे मेवाड के राजकुल की मर्यादा-रक्षा का अभिमान है। देखना, क्या का क्या हो जाता है।

अमरसिंह—महाराज, मुझे भी विश्वास है कि आप सब तरह से योग्य हैं। धर्म आपके साथ है। मेवाड की प्रजा आप को चाहती है किन्तु उधर भी आपके अनिवार्य अस्त्रो को कुण्ठित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न हो रहा है। यह जय-घोष जो आप सुन रहे हैं, वह इसीलिए है कि आप अपने को अधिकार से अपने आप ही च्युत समझने लगें। आपकी क्रियमाण शक्ति दब जाय, तथा प्रजा के हृदय में भी आपके अनुत्तराधिकार की बात जम जाय। किसी तरह का कोई विरोधी न रहे।

भीमसिंह—बस अमर! बस करो। मेरी तलवार म्यान से निकल भागना चाहती है। मेरे नेत्र जले जा रहे हैं। अन्त करण फुँका जा रहा है। मैं अभी इस अग्नि-कुण्ड मे जयसिंह को डालना नहीं चाहता। उसे धीरे-धीरे जलाने मे ही आनन्द है।

[पट परिवर्तन

दूसरा दृश्य

[भीमसिंह और महाराना का भृत्य]

भीमसिह—समझ मे नहीं आता, आज यह कैसी नई वात हुई ? ऐसा महाराना का मुझ से कौन काम आ पड़ा ?

भृत्य—अन्नदाता ! इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता। मैं केवल महाराना का सन्देश मात्र जानता हूँ।

भीम—मालूम पड़ता है प्रिय पुत्र जयसिंह को युवराज घोपित करके महाराना जी ने मुझे उसका दास वनाना सोचा है। मैं ऐसे अपमान को कदापि नहीं सह सकता। भीम अपने प्राणों को मान के साथ, ख़ुशी से, त्याग सकता है, अपनी स्वाधीनता को अपमान के हाथों नहीं वेच सकता।

भृत्य—महाराज !

भीम—जब तक मेरी कलाई मे तलवार पकड़ने की शक्ति है, जव तक मेरे अन्त करण में वल है, जव तक स्वतन्त्रता देवी की मुझमे भक्ति-भावना विद्यमान है और जव तक मैं संसार में अपनी धाक जमाने की क्षमता रखता हूँ, तव तक दासता का अपमानित वन्धन स्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्यों की तो वात ही क्या, भीमसिंह अपनी मान-रक्षा के लिए यमराज से युद्ध करने में पीछे नही है।

भृत्य—सच कहते हैं सरकार, किन्तु—

भीम—इसलिए मैं राणा जी के पास कदापि न जाऊँगा। जाओ, कह देना कि भीमसिंह आपके सामने आने में असमर्थ है। उसे अपने मानापमान का सबसे अधिक ध्यान है।

भृत्य—जो आज्ञा महाराज।

[प्रस्थान

भीमसिंह—यदि मैं चला जाऊ तो इसमें हानि भी क्या है? इसमे भय या सङ्कोच का तो कोई कारण नहीं है। इस समय चलकर यह देख लेने का भी अच्छा मौका है कि महाराना जी क्या कहते हैं? आज मैं अवश्य दो-दो बातें करूँगा।

[पट परिवर्तन

तीसरा दृश्य

[महाराना राजसिंह और भीमसिंह]

भीम—हैं! यह मैं क्या देख रहा हूँ। आज महाराना जी के चेहरे पर कैसी उदासीनता और कैसी चिन्ता छा रही है? मालूम पड़ता है, मुझे देखकर यह एक नया भाव-जाल बिछाया जा रहा है, पर भीम तो इसमे यथेष्ट सतर्क है। उसके ऊपर ऐसा जादू कभी काम नहीं कर सकता।

महाराना—प्रिय वत्स! भीम—

भीम—(चकित भाव से) कहिये पिताजी!

महाराना—बेटा! मैंने मोह वश तेरे साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। उसे याद करके आज मेरी आत्मा बहुत दुखी है।

भीमसिंह—(आँसू भर कर) पिता जी—

महाराना—तुम्हारे न्यायानुमोदित अधिकार पर जो मैंने हस्तक्षेप किया है उसके लिए मुझे नितान्त खेद है। मैं अपनी ग़लती आज समझ रहा हूँ। बेटा, मुझे उसके लिए महान पश्चात्ताप है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल ही मैं तुम्हारा वह अधिकार तुम्हें सौंप दूँगा।—किन्तु एक बात बड़ी कठिन उपस्थित हो गयी है। मेरी भूल के ही कारण यह भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। जयसिंह का जिस वस्तु पर किञ्चित अधिकार नहीं है, वह उसे अपनी समझ बैठा है। अब यदि एकाएक उसे उससे वञ्चित कर दिया जाय तो अवश्य ही भीषण तूफ़ान खड़ा कर देगा। यही बात मेरे हृदय मे शूल की तरह खटकती है कि इस भयङ्कर काण्ड में व्यर्थ हज़ारों-लाखों के .खून की नदी बह जायगी। इसलिए बेटा भीम! मेरी समझ में सब से अधिक और सब से सुन्दर बात यही है कि तुम मेरी यह तलवार लेकर जाओ और जयसिंह का काम तमाम कर दो। एक के मरने से लाखों का .खून रुक जायगा। जाओ बेटा! इसमें सोच-विचार न करो! मैं तुम्हें .खुशी से आज्ञा देता हूँ।—विश्वास करो, इसमें कोई दोष नहीं

है। वह तो तुम्हारा शास्त्र-सम्मत अधिकार है। लो यह तलवार और इसी क्षण चले जाओ।

भीम—पिता जी ! आप यह क्या कहते हैं ? जयसिंह तो मेरा भाई है।

महाराना—यह सब ठीक है, पर अपने अधिकार के आगे तुम्हें किसी तरह का सङ्कोच नहीं करना चाहिये।

भीम—नहीं पिता जी ! मुझे ऐसे राज्य की चाह नहीं है। मैं भाई जयसिंह के प्राणों के मूल्य का राज्य कभी स्वीकार नहीं कर सकता। हम दोनों तो सदा से ही एक प्राण दो देह रखते हैं। मैं अपने और जयसिंह में आज भी कोई अन्तर नहीं समझता। वह भले ही मेरे प्रति कुभावना रखता हो।—पिता जी ! मेरा तो यह विश्वास है कि इस क्षणभङ्गुर संसार में पवित्र और अमर यदि कुछ है तो केवल भ्रातृ-प्रेम ! उसीसे आज जयसिंह दूर हो रहा है। अज्ञानतावश उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वह यह नहीं जानता कि लड़ाई से कभी किसी का भला नहीं हुआ है ? पवित्र भ्रातृ-प्रेम से आज उसका हृदय रिक्त हो गया है।—मैं तो कहता हूँ कि यदि प्रेम से जयसिंह चाहे तो मैं अपना शीश तक उसे दे सकता हूँ। यह राज्य, जो थोड़े से पुरुषार्थ से बनाया-बिगाड़ा जा सकता है, तुच्छातितुच्छ वस्तु है ! आपने मुझे राज्य दिया, मैंने उसे सिर आँखों पर स्वीकार किया, पर अब मैं फिर उसे अपनी ओर से

सहर्ष अपने प्यारे भाई जयसिंह को प्रदान करता हूँ। परमात्मा करे, वह अपने पूर्व-पुरुषों की ही योग्यता से उसका शासन करने में समर्थ हो। पिताजी! मैं आपके चरण छूकर यह बातें कहता हूँ, इसमें कुछ भी अन्यथा न होगा। मैं समझता हूँ, यहाँ रहने से कदाचित् कभी मेरे मन में राज्य-लोभ की फिर इच्छा उत्पन्न हो, इसलिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजीवन मेवाड़-राज्य में जल-ग्रहण न करूँगा।—पिता जी! आप आशीर्वाद दीजिये कि आपका भीम अपने वचन पालन करने में समर्थ हो! और अब मेरा सदा के लिए प्रणाम स्वीकार कीजिये।—

[प्रस्थान

[पट परिवर्तन

चौथा दृश्य

[भीमसिंह और पनेड़ी]

भीमसिंह—आज ही नहीं मैं जब-जब इस पहाड़ी पर आया हूँ तो जल का कष्ट सहना पड़ा है।

पनेड़ी—महाराज! यह ढुवारी-पहाड़ी अवश्य ही मेवाड़ राज्य का वह भूखण्ड है, जहाँ भगवान अंशुमाली की किरणें अपनी पूर्ण उग्रता से पड़ती हैं। मालूम पड़ता है इसे अग्निमय बनाने का कोई प्राकृतिक प्रयोग बहुत काल से किया जा रहा है, और इसी कारण यहाँ सदैव जल की कमी रहती है।

[प्रतिज्ञा

भीम—कुछ भी हो, आज का यह भयङ्कर उत्ताप सदा से दुर्धर्ष है। ऐसा कष्ट तो यहाँ पहले कभी भी नहीं हुआ था। कहीं हम लोग मार्ग तो नहीं भूल गये हैं। अब तो, प्यास के कारण मेरा गला बुरी तरह सूखा जा रहा है। मुझे विश्वास हो गया है कि पहाडी से सुरक्षित निकल जाना अब बिल्कुल असम्भव है।

पनेड़ी—महाराज! जल मुश्किल हो सकता है, पर असम्भव नहीं। मैं प्राणों के मोल भी आपके लिए जल लाने का प्रयत्न करूँगा।

भीम—तुम्हारा साहस और तुम्हारी श्रद्धा अवश्य सराहनीय है। मैं तुम्हारी इस अनन्य भक्ति के लिये हृदय से कृतज्ञ हूँ पर मैं देखता हूँ कि तुम्हारे जल लाने तक तीन चार मेरे प्राण निकल जायेंगे। इसलिए अब कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं प्रयत्न करता हूँ कि जितनी ही दूर निकलकर मरूँ उतना ही अच्छा।

पनेडी—नहीं महाराज! मुझे कुछ भी कष्ट नहीं होगा। मै जानता हूँ, यहाँ से थोडी ही दूर पर जल मिल जायेगा। आप इस शिला की छाँह मे थोडी देर विश्राम करें, मैं अभी जाकर ले आता हूँ। इससे बढकर मेरे लिए और क्या सौभाग्य होगा, कि मुझसे निरर्थक प्राणी भी आपकी थोडी सी सेवा का अवसर पासकें।

[प्रस्थान

भीमसिंह—कौन जानता था परमात्मा के राज्य में मेरा पौरुष इतना सार हीन, इतना क्षुद्र और इतना नगण्य है कि एक कटोरा जल के लिए भी मैं पराश्रित हो सकता हूँ। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है, मैं ऐसा पुन्सत्व-हीन हो गया हूँ कि अपने वाहु-वल से अर्जन करके अपनी प्यास भी नहीं बुझा सकता। ये पहाड़ी की नम्र-शिलाएँ किस लिए सिर उठा-उठाकर मेरा उपहास्म कर रही हैं। यह उड़ती हुई रेत किस तरह पीछे से उडकर मुझे तिनके की तरह ठेलना चाहती है? क्या सचमुच मैं इतना भाररूप हो गया हूँ कि मेवाड़ की वसुन्धरा का प्रत्येक कण आज मुझे वाहर निकल जाने का आदेश दे रहा है?—बिल्कुल ठीक है, इसमें आश्चर्य की कौनसी वात है? अब मेवाड़—पर मेरा अधिकार ही क्या? मैं किसलिए इस पवित्र भूमि को अपने पैरों के नीचे दवा रहा हूँ। वसुधे! तुम्हारी सहन-शीलता को धन्य है! एक अनधिकारी के पदाघात को भी तुम उसी प्रकार सह लेती हो, जिस प्रकार माता बच्चे की मार को! पर मैं भी वैसा नीच नहीं हूँ, मुझे ध्यान है, मैं यहाँ अब एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। मेवाड़-राज्य में जल पीने का मेरा समस्त अधिकार दूसरे के हाथ में चला गया है। मैं तो यहाँ उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता।

[बनदेवी का प्रवेश

बनदेवी—ठहरो, इस तरह विचलित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। राजकुमार ! जब तुम्हारे मन में किसी तरह का कुविचार नहीं हैं तो जल पीकर प्राणों की रक्षा कर लेने से तुम्हारे गौरव की किसी प्रकार हानि न होगी।

भीमसिंह—नहीं देवि ! क्षमा करना। भीमसिंह की प्रतिज्ञा किसी अपवाद के साथ खडी नहीं हो सकती। ये प्राण निकल सकते हैं, किन्तु मेवाड की भूमि की किसी वस्तु को मैं ग्रहण नहीं कर सकता।

बनदेवी—राजकुमार ! यह तुम्हारा भोलापन है। यह पवित्र और अनुकरणीय है, किन्तु सत्य नहीं। एक घूँट जल पीकर तुम अपने प्राणों की रक्षा सहज में कर सकते हो तथा जीवन रहने पर और भी ऐसी कई प्रतिज्ञाओं का निर्वाह कर सकते हो। इसके अतिरिक्त इस निर्मुक्त नीलाकाश के नीचे, इस स्वच्छन्द वायुमण्डल से आच्छादित, इन नग्न दिशाओं से परिवेष्टित और इन विपिनविहारी शिला-खण्डों में सञ्चित और सुरक्षित जल पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। न इसे कोई किसी को दे सकता है, न स्वय बाँध सकता है। यह पञ्च तत्वों का एक अङ्ग अनादि काल से मुक्त और बन्धन-रहित है। इसलिए मेरा कहना मानो और अपने बालकोचित हठ को छोड़ दो !

भीमसिंह—देवि ! आपकी उक्ति मुझे मान्य है, किन्तु मैं क्या करूँ। मैंने उस वंश में जन्म लिया है, जिसके पूर्व-पुरुष महाराज दशरथ, और हरिश्चन्द्र थे। मुझे अपनी बात के लिए तनिक भी सङ्कोच नहीं है। मैंने ऐसा कोई महत्व का कार्य भी नहीं किया है, केवल उन पूज्य पुरुषों के चरण-चिह्नों की याद करके मैं यह सब कहने का साहस कर सका हूँ। उनके गौरवास्पद नाम को मैं अपनी दुर्बलता से कलङ्कित नहीं किया चाहता।

वनदेवी—राजकुमार ! मैं तुम्हारी दृढता से परम प्रसन्न हूँ। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तुम आजीवन अपनी इस अनुपम प्रतिज्ञा का अच्छी तरह पालन कर सको। वत्स ! तुम्हारा नाम मेवाड के ही नहीं वरन् संसार के सर्वस्वत्यागी सर्वश्रेष्ठ महापुरुषो की संख्या में अनन्त काल तक पूजा की सामग्री रहेगा।

[प्रस्थान

भीमसिह—अब मुझे तुरन्त ही चल देना चाहिये।

[पनेड़ी का जल लेकर प्रवेश]

पनेड़ी—महाराज ! यह बहुत ही स्वच्छ झरने का शीतल जल है।

भीमसिह—किन्तु मेवाड़ की भूमि का, जिसके पीने का मुझे अधिकार ही नहीं है।

[जल का पात्र लेकर उलट देते हैं]

भीमसिंह—आज तक मैं जिस भूमि में आनन्द के साथ रहा हूँ, उसे शतश प्रणाम हैं। हे मेवाड़ की रत्नगर्भा-मेदिनी ! तेरे इस उद्धत भीम को इस जीवन में फिर तेरे दर्शन का सौभाग्य न होगा ! किन्तु वह बाहर रहकर भी सदा तेरा—केवल तेरा ही रहेगा।

[पटाक्षेप]

निराशा

[१]

झूँसी मे घनू एक मांझी था। उसके घर में स्त्री रेवा कन्या ननकी और लड़के छुटका को छोड़कर कुछ भी न था। वह दरिद्र बिलकुल दरिद्र था।

बाहर त्रिवेणी के संगम में उसकी एक डोंगी थी— बहुत पुरानी न जाने कब की। सूरज की पहली किरण से भी पहले वह उसका पतवार जाकर उठा लेता और अन्तिम किरण के बाद यथास्थान पहुंचाकर कजली गाता हुआ घर पहुंचता। वह उसके परिवार की तमाम दिन की आशाओं का मगल-मुहूर्त होता था। यदि वह न पहुँचता तो ननकी और छुटका की संचित की हुई लकड़ियाँ वैसी ही पड़ी रह जातीं, रेवा का खोंटा हुआ शाक या बनाई हुई मछलियां किसी काम न आतीं और

इससे भी ज्यादा उन सबकी आशाभरी आत्माएँ चिन्ता और शोक से मुरझा जातीं, पर ऐसा कभी हुआ न था। वह सदा सूरज और चन्द्रमा की तरह ठीक समय पर आ जाता था।

एक दिन रोज की तरह उषाकालीन तारों की छाँह में उसने आकर देखा, जगह पर डोंगी न थी। रात ही रात नदी बढ़कर किनारों को छूने लगी थी। डोंगी डूबी या बह गई, इसका पता लगाना असम्भव था। बस, वह प्रवाह की ओर बढ़ गया।

[२]

उस शाम को धनू न आया। रेवा ननकी और छुटका को लेकर संगम पर गई और लौट आई। वह गाता हुआ कहीं सुनाई न पड़ा। तारे चमके और क्षीण हो गये, सूरज निकला और अस्त हो गया, पर किसी में आश्वासन की मुस्कराहट न थी। छुटका का आशा-कुसुम मुरझा गया, वह ज्वर से कांपने लगा। ननकी की उदर-ज्वाला बढ़ी वह उसमें छटपटाने लगी। रेवा के विशाल हृदय में यह सम्पूर्ण करुण लीला समा गई, वह टस-से-मस न हुई। उसने आग की आंच से छुटका की परिचर्या की और गंगा की पवित्र बूँदों से ननकी को शांत किया।

दूसरा दिन भी चढ़कर ढल गया। शाम हुई—निशीथ आया, पर धनू न लौटा। बच्चों की दशा भी न सुधरी।

रेवा का चिन्तित, पर उत्सुक हृदय भी बैठ चला। रात अपनी निस्तब्धता को लेकर आई और सूने उजाले को छोड़कर चली गई। हताश रेवा दोनों बच्चों को गोद में लेकर चुमकारने लगी।

[३]

धनू पूरे तीन दिनों तक कछारों में डोंगी की तलाश करता रहा। मीलों जाकर थक गया, पर वह कहीं दिखाई न दी। आगे प्रवाह की अनन्त जल-राशि थी और पीछे निर्जन प्रदेश। डोंगी गई और उसके साथ जीवन का संतोष चला गया।

झूँसी बहुत दूर हो गई, पर उसका चित्र उसकी शून्य दृष्टि के सामने नाच रहा था। उसने जीवन भर डोंगी चलाई थी। कभी उसे कविता के लिए कल्पना नहीं करनी पड़ी थी। फिर भी स्वभाव-जात मानसिक व्यापार ऐसा प्रबल हो उठा कि उसने रेवा की मौन पुकार सुन ली। बच्चों के वात्सल्य-प्रेम से प्रेरित होकर वह घर की ओर लौट पड़ा।

जैसे-जैसे वह आगे जाता था, एक अपरिचित निराशा और वेदना का असहनीय भार उसके हृदय को दबा रहा था। विराट विश्व में जीवनयापन के उपायों की कमी नहीं है, पर धनू के लिए डोंगी ही संसार थी। उसके सिवा भी

कोई तरीक़ा हो सकता है, यह उसे अमावस के चन्द्रमा की तरह सशयास्पद था। निराशा के उसी अन्धकार में खाली हाथ, धड़कता हुआ हृदय दबाकर धनू ने द्वार के भीतर पैर रखते ही सुना, चिड़ियों की तरह महीन आवाज़ में दोनों बच्चे रेवा से खाने को माँग रहे थे और वह चुमकार कर कह रही थी—बापू तुम्हारे खाने के लिए मिठाई लावेंगे।

सध्या हो चुकी थी, पर बच्चों ने कहा—माँ, अभी तो सूरज चमकता है। उनके आने मे बहुत देर है, अम्मा।

क्या ?—अब सूरज कहाँ है ? वे आही रहे होंगे—कह कर रेवा ने बच्चो के हृदय में आशा का सचार करना चाहा।

धनू ने देखा, उसके पास फूटी कौड़ी भी न थी। वह अंधकार मे निकल आया। मुँह से एक गर्म आह निकल पड़ी और आँखों से आँसू के दो बूँद। उच्छ्वास हवा में मिल गई और अश्रु-बिन्दु भूमि पर चू पड़े। धनू 'कल-कल' उपहास करती—इठलाती—नदी की ओर एकटक देखता रहा।

जवाबी कार्ड

[१]

शुरू सावन की द्वितीया थी। सरला द्वार की एक-एक सीढ़ी उतरकर बग़ीचे मे गई। झूला सघन सुवासित कदम्ब की डाल में पड़ा था। रेशम की तिरङ्गी रस्सी पर जड़ाऊ पटली रक्खी हुई सुन्दर समीर के झोकों से आप ही झूल रही थी। उसने आकर झूले को पकड़ा, पर झूली नही, छोडकर चली गई।

कितने ही सावन उसके जीवन में आ चुके थे। अल्हड़ बचपन की चपलता के दिन, निर्विकार शैशव की अबोध सरलता के दिन—वे घड़िया, वे आमोद-प्रमोद और उनकी वह स्मृति! यौवन की मादक गभीरता, रस भरी सलज्ज चितवन ने जीवन के मधुर कौतुक अतीत के

अंधेरे कोने मे छिपा दिये थे। परिणय की मर्यादा ने कुमारी-सुलभ पवित्र चपलता को सीमा के अन्दर खींच लिया था। लेकिन झूले की डोर पकडते ही दक्षिण पवन की एक हल्की लहर ने एकबारगी समस्त स्मृतियों को सजीव करके उसके सामने ला दिया।

पिछले सावनो में वह अपनी जिस प्यारी सखी के गले में बाहें डालकर झूला करती थी, वह लीला उसके पास न थी। यौवन का वसन्त भी उसके लिये एक नया ही ससार लेकर आया था, और उसने प्राचीन परिचित दृश्यों को एकदम स्वप्न की सम्पत्ति बना दिया। लीला उसके चिरजीवन की सहचरी थी, पर आज वह दूर बहुत दूर जा बैठी है। उन दोनों के बीच कई सौ मील का अन्तर बाधक हो गया है।

विवाह उन दोनों के जीवन मे विच्छेद बनकर आया। मेहदी खोटकर रचाना, रग-विरगे चीरों का पहनना उसने लीला के बिना कभी किया ही न था। आदत ही ऐसी पड़ गई थी। बचपन के दिनों की उस चिर-सहचरी की मंजु मधुर याद क्या कभी भूलने की चीज़ थी?

सरला उसे न भूली थी, और लीला भी उन सुनहली स्मृतियों को अपने हृदय के एलबम मे सावधानी से सजाये हुए थी। सच पूछो तो विच्छेद की राख हटाकर विरह

की चिनगारियो की जलन उसीने पैदा की थी, नहीं तो सरला को क्या कुत्ते ने काटा था कि वह अपने मातृहीन मायके के सूने भवन मे रुनझुन करने आती। स्वामी के हंसमुख चेहरे पर उदासी छोड़कर आने का उसे जरा भी चाव न था।

अपने पत्रों मे लीला ने वार-बार लिखा था—"तुम आना, ज़रूर आना। मैं जानती हूँ मैं ऐसा अनुरोध करके किसी के ऊपर वडा अत्याचार कर रही हूँ उनसे मेरी ओर से कहना, तुम उन्हीं की हो—पूर्णत उन्हीं की और उन्हीं से मेरा अनुरोध है। आशा है, वे ऐसे अनुदार न होंगे। जिन्हें मैंने अपने चिरजीवन के सर्वस्व पर पूर्णाधिकार इतनी उदारता से दे दिया है।"

"इस साल के ये महीने कैसे वीते हैं, उनकी मीठी-मीठी वाते करने के लिये तुम आना। वहुत कुछ कहना है, वहुत कुछ वताना है और वहुत कुछ सुनना। यह जीवन की तरल धारा न जाने किस क्षण किस तरफ वदल जाय, फिर कव अवसर मिले—इसलिये मेरी प्यारी सरले! मेरी प्यारी वहना! मेरा अनुरोध मानकर अवश्य आना। मैंने घर वार-वार लिख दिया है। मैं शीघ्र ही पहुँच जाऊँगी। वही मिलना। यह मत समझना कि मैं तुम्हारे ही ऊपर अत्याचार कर रही हूँ, मैं स्वय अपने ऊपर कठोर अत्याचार और निष्ठुर नियन्त्रण करके आना चाहती हूँ—पर इस

बार आना अवश्य चाहती हूँ। यहां भी लोग रूठे हैं, खूब ही। कहते हैं विधाता यदि उनसे सलाह लेते तो उन्होंने हम दोनों में से एक की सृष्टि ही रुकवा दी होती या नहीं तो कम से कम परिचय और इस घनिष्टता का तो सूत्रपात न होने दिया होता। लेकिन मैंने उन्हें मना लिया है, समझा दिया है। तुम्हारे ऊपर किसी के अधिकार की बात जो मैं अभी कह चुकी हूँ, वही तुम्हारी तरफ से कह कर उन्हें ठीक किया है। वे समझ गये हैं। अब मनाने की जरूरत नहीं है। उन्हें विश्वास हो गया है कि तुम उनकी चीज पर कुछ अधिकार नहीं चाहती हो, उनका डर दूर हो गया है। वे तुम्हारी ईमानदारी में विश्वास करते हैं। पर, अभी एक रुकावट है—मां नहीं मानतीं। उन्हें मनाना बाकी है। यह काम मैंने अपने घरवालों पर छोड़ दिया है। वे मान जायँगी—विश्वास है।"

इस तरह बुलाकर भी लीला खुद न आई, या न आ सकी। उसके दादा जाकर लौट आये। सास नहीं मान सकी। सरला के सरल कोमल अन्त करण में मर्मव्यथा छलक पड़ी। वह बगीचे से लौट आई। जलसिंचित पलकें अञ्चल से सुखाकर वह अपने कमरे मे आ बैठी और उसी समय लीला के लिये एक पत्र लिखा।

कार्ड दोनों जुड़े हुए थे। अन्त करण की उद्भ्रान्त वेदना के कारण वह कार्डों को भी पृथक न कर सकी।

जवाबी ही रहने दिया। सोचा दोनों कार्ड जिस तरह परस्पर मिले हुये हैं उसी तरह वे उसकी प्यारी सखी को भी लाकर मिला देंगे। उसके व्यथाकुल हृदय में प्रसन्नता की एक हलकी सी रेखा थोडी देर के लिये खिंच गई।

[२]

मातृहीन छोटे भाई कुञ्जू के अनेक उत्पातों को सरला चुपचाप सह लेती थी। वह भी अपनी दीदी के सामने अपनी शिकायतों का दफ़र खोल देता था, अपने एक एक हठ और अनुरोध की रक्षा करा लेता था। कब किस पड़ोस के लड़के के पास कौन सा खिलौना चुपचाप आ गया, कब डाल के किस फूल के लिए उसका मन मचल गया, यह सब सरला दीदी को जानना पडता था। और उसके दूर करने का उपाय भी करना पड़ता। हमारे छोटे परमहंस के आश्रम में सरला कामधेनु थी। भाई की सभी इच्छाओं की पूर्ति उसे करनी पड़ती थी।

मां की मृत्यु के बाद से सरला को इसका अभ्यास भी अच्छी तरह हो गया था। भाई के उपद्रवों में ही उसे एक तरह की तृप्ति होती थी। बगैर उपद्रव और हठ के वह कुंजू की कोई बात सुनना नहीं चाहती थी। इसी से ससुराल में सब सुख और मनोरंजन के समान होते हुए भी उसका जी एक तरह की उदासी से म्लान रहता था। बराबर अपने छोटे ज़िद्दी भाई के लिए उसकी चाह बनी रहती

थी। कुजू जहां दीदी पर इतने अत्याचार करता था वहा उसके काम भी आता था। वह अपनी दीदी की तमाम फरमायशें बाबूजी से पूरी करा लेता था। अपने लिये बाज़ार से वह खिलौना लाता था तो दिदिया के लिये भी नीली साड़ी हठ-पूर्वक ख़रिदवा लाता था। दीदी के बालों के लिए क्लिप ले आने की याद वह अपनी मिठाई से भी ज्यादा रखता था। यही नहीं वह सरला के लिये बगीचे से फूल चुन लाता था। मेंहदी खोंटने में तो बराबर वह अपनी बहन की सहायता करता था।

सरला की तमाम खानगी डाक का डाकिया भी कुंजू ही था। वह ठीक वक्त पर चिट्ठीरसा की तलाश में इसी-लिये रहता था कि दीदी की चिट्ठी कहीं बाबूजी की चिट्ठयों में मिलकर पडी न रह जाय। कुछ विशेष अवस्था के लोगों को सरला का यह प्रबन्ध बुरा न लगेगा। वह जल्दी से चिट्ठी लेजाकर बहन के पास पहुँचता था और उनके उत्तर भी खुद ही लेटरबक्स के हवाले करता था।

आज भी पत्र लिखकर सरला ने कुजू को दिया और दुलारकर कहा—मेरे राजा भइया! इसे जल्दी से बम्बे मे डाल तो आ।

कुजू ने कार्ड ले लिया, कहा—हा, तो दीदी! एक बात है। कला करता हुआ एक नट आज मेरे लिये मँगा देना। श्यामू के बाबू ने उसे ला दिया है।

यह कहकर उसने कार्ड पर नजर डाली। देखा, वे दोनों जुडे हुये हैं। अबसे पहले उसने कभी जवाबी-कार्ड नहीं देखा था। वह प्रबल जिज्ञासा रखनेवाला बालक कार्ड अपनी पीठ पीछे छिपाकर लगा दीदी की भद्दी भूल पर खिलखिलाने।

सरला ने पूछा—क्या बात है ?

उसने कहा—क्यों बताऊँ ? सरला चुप रही तब उसने हँसकर कहा—दीदी तुम्हीं कहो, कोई बात रह तो नहीं गई ?

क्या बात रह गई ?—कहकर सरला उसके मुँह की तरफ ताकने लगी।

कुञ्जू—मैं न बताऊँगा। तुम्ही बताओ। कार्ड तो तुम्हीं ने लिखा है।

सरला का जी अनमना हो रहा था। भाई की हँसी से कुछ-कुछ रुष्ट होकर उसने जरा डांटकर कहा—लाओ देखें तो।

कुञ्जू इस तिरछी नज़र की तीव्रता को न सह सका। उसके कार्ड सरला के हाथ में देदिया। सरला ने इधर उधर उलटकर देखा। पता पढ़ा, और कहा—बचा, दीदी को झूठ ही तंग करते हो, जाओ इसे डाक में छोड आओ।

पत्र लौटालते समय कुञ्जू को विश्वास हो गया था,

कि सरला भूल समझ जायगी, पर जब उसी तरह फिर कार्ड उसे दे दिया गया, तब तो उसे बहन की लापरवाही पर बेहद हँसी आई। उसने कहा—अरे! अब भी तुम्हे मालूम न हुआ! यह देखो एक कार्ड वगैर लिखा ही है?

मन न रहते हुए भी सरला के होठों मे हँसी फूट पड़ी। उसने एक बार भाई के फूले गाल पर एक हल्का सा तमाचा लगाकर कहा—दुर पगला, यह जवाबी कार्ड है। यह इसी तरह जाता है।—जा, भइया दौड़कर छोड़ तो आ।

कुंजू ने जरा सा झेंपकर और जरा सा चकित होकर पूछा—कैसा जवाबी? यो ही जायगा क्या?

सरला—हां, यो ही।

कुंजू—क्यों?

सरला—पहले दौड़कर डाल आओ। पीछे बताऊँगी।

कुंजू कार्ड जेब मे लेकर भाग गया। उसे लेटरबक्स में छोड़ आया, और जवाबी कार्ड की सारी उपयोगिता दीदी से सुन लेने पर भी उसे विश्वास हो गया हो यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मालूम पड़ता है बड़ी उत्सुकता से वह परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा।

[२]

सरला ने तो मां का मुख कुछ देखा भी था पर लीला की मा तो उसे प्रसूतिगृह में ही छोड़कर अनन्तधाम को

चली गई थी। उसी समय से उसकी चाची ने उसे अपनी सन्तान समझकर बडा किया था। उसने चाची के प्यार की मां के प्यार के साथ तुलना कर उन्हें मां से भिन्न समझने का यत्न नहीं किया। लेकिन जब से वह ससुराल आई, और उसने अपनी स्नेहशीला सास का प्यार पाया, तब से उसे अपने गत जीवन की अपूर्णता का अच्छी तरह ज्ञान हो गया।

प्रेम के इस नन्दननिकुंज में आकर वह ऐसी रम गई कि उसे घर की याद ही न आती थी। अपने घर की ओर वह किसी नाते कभी याद कर लेती थी, तो वह सरला का नाता था। उसी को देखकर जहां उसने अपने दुःख-सुख को थोडी बहुत तीव्रता अनेक बार कम की थी, वहीं सरला कभी-कभी उसे बीते दिनों की याद दिला देती थी। इसके अतिरिक्त इन थोडे दिनों में वह एक नये ही संसार में पहुँच गई थी, वहां की अनेक विशेषताओं को लेकर किसी के हृदय में उँडेल देने के लिये उसका जी आतुर हो उठा था। इसीसे दादा आये पर उसकी सास ने नहीं भेजा तो उसका जो कुछ कुछ उदास हो गया, पर दो ही चार दिन में वह फिर स्वस्थ हो गई।

एकाएक सरला का पत्र मिला। लीला ने उसकी एक एक पंक्ति ध्यान से पढी। उसका कोमल अन्त करण, खुशी और गर्व से छलक उठा। वह आँसुओं के आवेग को रोक न सकी।

सासने आकर पूछा—बहू, किसी ने कुछ कहा है क्या ?

लीला ने घर जाने की अपनी इच्छा जता दी। आज्ञा मिल गई। लीला के स्वामी को ही उसे मायके तक पहुँचाने का भार दिया गया।

जिन कार्डों को पृथक करते समय सरला ने मर्म-वेदना अनुभव की थी उन्हें लीला ने हँसते-हँसते चीर डाला, और उमग के साथ लिख दिया—तुम्हारे जादू ने सबको मोहित कर दिया है। सब मन्त्रमुग्ध तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करने को विवश हैं। शेष मिलने पर।

[४]

कुंजू ने जब से वह कार्ड डाला था तब से वह बराबर पोस्टमैन की प्रतीक्षा करता था। पढ़ा-लिखा न था, उम्र भी पढने लिखने की न थी—पर था बड़ा तेज। उसमें सीखने की प्रबल इच्छा थी, और पढ़ने की अपूर्व चाह।

वह अपने खेल में व्यस्त था। बेले के फूलों को अपने खिलौनों के पास किस तरह सजाना चाहिये, इसी में उस समय उसकी समस्त बुद्धि उलझ रही थी। वह एक-एक फूल चुनकर रख रहा था। एकाएक चौंककर उसने मुँह फेरा, देखा, पोस्टमैन खड़ा है, पर पोस्टमैन ने उसकी तरफ़ बिल्कुल ध्यान न देकर दरवाजे मे एक कार्ड फेंक दिया और चला गया।

कुंजू पोस्टमैन की उपेक्षा पर मन ही मन नाराज तो हुआ, पर उस ओर अधिक ध्यान न देकर उसने कार्ड उठाया और दीदी के पास ले भागा।

सल्लो दीदी—कहता हुआ वह ज्योंही कमरे में गया तो वह और भी चकित हो गया। उसने देखा—लीला भी तो वहाँ आ पहुँची है। सरला और लीला गले मिल रही हैं।

उसे इस तरह चकित खड़ा देखकर लीला ने उसकी बाह पकड़कर अपनी गोद में खींच लिया और कहा—आओ भइया कुंजू, अपनी दीदी को भूल गये हो क्या?

नहीं तो—कहकर कुंजू उसी तरह कौतूहल के चाव से खड़ा रहा। तब सरला ने लीला से कहा—जो कार्ड तुम्हें इतनी जल्दी ले आया, वह खुद अभी तक नहीं—

कुंजू ने बीच में रोककर कहा—आ तो गया है दीदी, यह लो। देखो, यही है न?

सरला और लीला दोनों वह कार्ड लेकर देखने लगीं।

बचपन की इस घटना ने कुंजू के भोले हृदय में एक विश्वास पैदा कर दिया, वह उसे बहुत दिनों तक न भुला सका।

[५]

बरसों बीत गई हैं, जमाना बदल गया है। लीला का सुनहला संसार अब उजड़ गया है। उसका जीवन इतना

सूना हो गया है कि एक भी बात ऐसी नहीं रह गई, जिसके लिये वह अपनी सखी के भावों मे विद्रोह मचाने का उपक्रम करे। वह बेचारी अब विधवा हो गई है। वह उस उपवन की तरह पडी रहती है जिसके तमाम फूल चुन लिये गये हों। स्वामी की बलशाली भुजाओं का आश्रय तो गया ही, साथ ही उसकी स्नेहमयी सास का सहारा भी चला गया।

सरला भी अब वह भावुक नवयुवती सरला नहीं है। उसके छोटे-छोटे कच्चे-बच्चों ने उसकी सारी भावुकता को दूर कर दिया है। हर समय वह उन्हीं के पीछे परेशान रहती है। उसे फुरसत कहा? लीला के दुर्भाग्य का समाचार सुना, थोड़ी देर मुँह छिपाकर रो लिया—पर फिर अपनी धुन में लग गई।

इतने बडे बडे परिवर्तन होकर भी कुंजू के मन की जवाबीकार्ड के प्रति वह भावना नहीं बदली है। वह स्वयं बढकर कुछ का कुछ नजर आने लगा है, पर न जाने क्यों वह अपने मन से वह अन्धविश्वास नहीं दूर कर पाया।

अब तक कोई बाहर ऐसा मित्र या सबंधी नहीं था जिसे वह स्वय कुछ लिखता। इधर आप ही आप एक सुयोग उपस्थित हो गया। उसका परम मित्र राधे अपने माता-पिता के साथ एक लम्बी यात्रा को रवाना हुआ।

चलते समय कुंजू ने कहा—दोस्त, जल्दी आना। नहीं तो मेरा जी कैसे लगेगा ?

राधे ने हँसकर कहा—हां, कोशिश तो यही करूँगा। अगर कुछ देर भी हुई तो बराबर चिट्ठी लिखता रहूँगा।

दोनों मित्र जुदा हुए। राधे एक जगह से दूसरी जगह होता हुआ अनेक तीर्थों और नगरों में गया। हर स्थान से वह बराबर अपने प्रिय सखा को अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिख भेजता रहा। उसने अयोध्या से लिख भेजा —तीसरे दिन प्रयाग पहुँचूँगा। बा० कामताप्रसाद के यहा बहादुरगंज में ठहरूंगा—दूसरा पत्र वहीं पहुंचकर लिखूँगा।

एक-दो तीन-चार-दस दिन हो गये। फिर कोई पत्र कुंजू को नहीं मिला। बार-बार वह राधे की उदासीनता पर खीझ उठता था। कई बार इरादा भी किया कि एक कड़ी फटकार लिखकर भेजे, पर एक ही एक डाक देखते-देखते काफ़ी समय निकल गया। वह मन ही मन यह सोच कर और भी अधीर हो उठा कि कहीं कोई बीमार तो नहीं पड गया ? क्योंकि राधे का स्वास्थ्य सदा से ही तोला-माशा रहा है।

जवाबी-कार्ड भेजने का उसे यह ठीक मौक़ा मिल गया। जी भी चिन्तित था, व्याकुलता भी अधिक थी, बस वह अपने मन को न रोक सका। चटपट कार्ड लिख

कर अपने हाथ से डाकघर में छोड़ आया। इतना करके अपनी संस्कार-जन्य श्रद्धा के कारण उसे ऐसा विश्वास सा हो गया कि बस अब उसके मित्र के आने में देर नहीं है।

कई दिन बाद पोस्टमैन को अपनी तरफ आते देखकर वह उछल पड़ा। इस बार उपेक्षा से नहीं बड़ी सावधानी से पोस्टमैन ने लाकर पत्र उसके हाथ में दे दिया। कुजू बड़ी उत्सुकता से उसे लेकर पढ़ने लगा, पर सहसा उसके मुँह से चीख निकल गई। पत्र किसी अपरिचित के हाथ का लिखा था कि 'राधे की डोंगी यमुना में उलट गई। वह डूब गया। उसके माँ-बाप किसी तरह निकाल लिये गये, पर वे मरे से बदतर हैं—शोक से पागल हो रहे हैं। ईश्वर की लीला में किसी का हाथ नहीं।'

कुजू पत्र हाथ में लिए हुये आरामकुर्सी पर गिर पड़ा। ऐसा जान पड़ा मानों उसके हृदय का स्पन्दन और रक्त का प्रवाह एक दम रुक गया हो।

सैनिक

[१]

रण-भेरी बजते ही युद्ध आरम्भ हो गया। खचाखच चलने लगी। रुण्ड-मुण्डों से पृथ्वी पट गई। स्वतन्त्रता के प्रेमी युवकों के कटे हुए मस्तक ठीक अर्द्धचन्द्र की भाँति गिरने लगे। रण-प्राङ्गण की प्रलयङ्कारी भयङ्करता से वीरों के हृदय उछलने लगे। हाथों में जोश आ गया। तलवार की अनी तेज़ हो गई। 'मार-मार' की आवाज़ से मैदान गूँज गया। मुर्दों का ढेर लग गया। संग्राम-स्थल में लोहू की नदी वह निकली।

एक नवयुवक घुड़सवार की रण-कुशलता पर लोग अवाक् थे। उसने कितने ही हौदों को ख़ाली कर दिया,

कितने ही सवार गिरा दिए और कितने ही पैदल सिपाहियों को यमालय भेज दिया। देखनेवालों की निगाह काम नहीं करती थी। सभी की दृष्टि उस ओर लगी थी। लगातार युद्ध करते-करते वह कुछ-कुछ थक चला था। उसकी तलवार कुछ-कुछ तृप्त हो गई थी, फिर भी उसने घोड़े को एँड़ लगाई, तो अपने से ड्योढ़े युवक-सैनिक के पास जा पहुंचा। सैनिक की तलवार अपने प्रतिद्वन्द्वी की गर्दन पर पड़ी ही थी कि इसने सँभल जाने की ललकार दी। सैनिक घावों के कारण आवेश और गुस्से में था। जब तक यह सँभले तब तक ललकार के जवाब में सैनिक की तलवार युवक के गले पर जा पहुंची। सेना में हाहाकार मच गया। सैनिक की तलवार लक्ष्य पर पहुँच चुकी थी, जब उसने उसके वीरोचित भोले और मनोहर रूप को देखा। उसने अपना हाथ वहीं रोकने की बेहद कोशिश की, लेकिन तब भी युवक का बख्तर कटकर एक हलका-सा घाव हो ही गया। उसके प्राण बच गए, लेकिन हाथ के धक्के से वह पृथ्वी पर आ रहा। सैनिक ने कूदकर ज्योंही उसकी दोनों कलाई हाथ मे पकड़ीं, उसने झटककर पीछे हटते हुए कहा—दूर! रमणी का अङ्ग-स्पर्श न करना। हथियारों से उसे परास्त करने का का प्रयत्न करो। सैनिक उसके धक्के से अधगिरा-सा वहीं भौचक्का होकर रह गया। हाथ बढ़ा का बढ़ा ही

रहा । वह शीघ्र घोड़े पर चढ़कर बिजली की तरह उड़ गई ।

[२]

अँधेरा होने से युद्ध बन्द हो गया। सेनाएँ अपने-अपने शिविर में विश्राम करने चली गईं, लेकिन सैनिक वहीं, सुनसान रणभूमि में लोथों के ऊपर टहल रहा था। उसका शरीर घावों से जर्जरित और ख़ून से लथपथ था। पर इसकी उसे चिन्ता न थी, वह तो केवल उसी वीराङ्गना के लिए व्याकुल था। बड़े सोच-विचार के उपरान्त वह शत्रु-सेना की ओर चल दिया।

रात अँधेरी थी। सेना दिनभर की थकी-माँदी अचेत पड़ी थी। अच्छा अवसर हाथ लगा। सैनिक एक के बाद दूसरे तम्बू को देखता हुआ सेना के मध्य भाग में विचरने लगा। उसकी आँखें बड़ी देर से जिसकी खोज में थीं, वह उसकी शय्या के पास पहुंच गया। उसने अपनी आँखों को बार-बार मलकर इस बात का निश्चय कर लिया कि वह इच्छित व्यक्ति से कोई अन्य नहीं। बड़ी देर तक वह खड़े-खड़े अतृप्त नेत्रों से उस अनूठे सौन्दर्य को निरखता रहा।

[३]

एक गुप्तचर ने, जो सैनिक के पीछे लगा था, सेना-

पति को सूचना दी। उसने बहुत थोडे परिश्रम से प्रेमान्ध सैनिक को आकर गिरफ़ार कर लिया।

युवती जब जगी, तो अपने पिता को आठ-दस सिपाहियों के साथ सैनिक को बाँध ले जाते देखा। सैनिक ले जाकर बन्द कर दिया गया। इस गडबडी से जागे हुए लोग फिर जाकर सो रहे। युवती भी इधर-उधर घूमकर थोडी देर बाद जाकर पड रही और कुछ सोचते-सोचते सो गई।

तीन बजे से ही लोग जागने लगे। सिपाहियों के सजने की आहट होने लगी। चार बजे सेना बिलकुल ठीक हो गई। पाँच बजे दोनो ओर की सेना युद्धस्थल में आपने-सामने उपस्थित हो गई। धीरे-धीरे युद्ध आरम्भ हुआ और खूब हुआ लेकिन वीरो की आँखें किसी प्रवीण योद्धा की खोज में व्यस्त थीं।

आज वीराङ्गना का मोर्चा खाली था, यद्यपि उसकी अधीनस्थ सभी सेना निरन्तर लड रही थी। सभी को न जाने क्यों उसकी अनुपस्थिति अखर रही थी। लेकिन लडाई बराबर होती रही।

[४]

'युवती सिर-दर्द का बहाना करके लडने न गई थी। वह आज सचमुच कुछ अन्यमनस्क और अस्वस्थ

दिखलाई पड़ती थी। वह बेचैन भी अत्यधिक हो रही थी। उसका मर्दाना वीर-वेश आज स्त्रियोचित भीरुता और सौकुमार्य से ओत-प्रोत दिखाई देता था। रणाङ्गण की चौकड़ियाँ अब उसे याद न थीं, प्रत्युत रमणी-सुलभ हाव-भाव ही विशेष रूप से परिलक्षित होते थे। थोड़ी देर बाद उसने छद्म-रूप बदल दिया। अपनी असली वेश-भूषा धारण की। बालों को ऐंठकर बाँधा, आभूषण सजाए, सिन्दूर की बिन्दी लगाई, नवीन वस्त्रों से शरीर को अलङ्कृत किया। लोग तो क्या, वह स्वयं ही अपने इस अनुपम लावण्य को देखकर चकित रह गई।

अब—अब वह चल दी। जाकर शिविर के बन्दीगृह के द्वार पर पहुँची। पहरेदार ने बड़ी शिष्टता से अभिवादन किया और यह जानकर कि वह बन्दीगृह में प्रवेश करने का विचार रखती है, तुरन्त फाटक खोल दिया। उसने भी बिना कुछ कहे अन्दर घुसकर अपने पीछे द्वार, बन्द कर देने का सङ्केत कर दिया। फाटक बन्द हो गया। युवती ने परिचित सैनिक की कोठरी में पहुचकर आरती जगाई। अन्धकारमयी कोठरी में प्रकाश देखकर सैनिक उठ बैठा और आगे बढ़ते ही दोनों की आखें मिल गई। युवती का कलेवर प्रस्वेदमय हो गया और हाथ कापने लगे। लज्जा के भार से वह इतनी दब गई—ऐसी विनम्र-वदना हो गई कि सारा प्रणय-संवाद विस्मृत हो गया।

सैनिक भी इस अपूर्व घटना से कम प्रभावित न हुआ। कुछ क्षण के लिए उसके भी होश-हवास उड़ गए। जब उसे विश्वास हो गया कि वह उसका दृष्टि-विकार नहीं है, तो उसने कहा—यदि अनुचित न हो तो क्या आप यह बतलाने का कष्ट करेंगी, कि किस भाग्यशाली का उपहार लेकर आप भूल से यहा आ गई हैं, और आप हैं कौन ?

"आप के सिवा इस उपहार का और कौन अधिकारी है ? भला आप ऐसा क्यों कहते हैं, मैं तो भूली नहीं।" फिर उसने कुछ ठहरकर लजाते हुए कह ही तो दिया, "और मैं वही हूँ।"

"वही कौन ?"

"तो क्या अधिक परिचय की आवश्यकता होगी ? यदि हां, तो मैं वही हूँ, जिसे कल आपने जीवन-दान दिया था।'

"अच्छा, यदि यह उसी का प्रत्युपकार है, तो मैं कहूँगा कि सरासर भूल है। मेरा जीवन नितान्त युद्धमय है, उससे किसी तरह की आशा करना ही भ्रम है। साथ ही मैं एक अत्यन्त साधारण सैनिक हूँ। युद्ध मे उपार्जन की गई प्रत्येक वस्तु का अधिकार सेनापति को है। तिस पर मैं तो शत्रु के यहां बन्दी हूँ।"

"यह बदला नहीं है। बदले मे तो उसी समय हृदय-

दान कर चुकी हूँ। यह तो केवल अन्तर्भावनाओं का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है, और आपको स्वीकार करना ही होगा। मुझे विलास की आकांक्षा नहीं, मैं रूप पर मोहित नहीं हूँ। मुझे आपके उच्चपदस्थ होने का भी भ्रम न था। मुझे आकर्षित करनेवाला आपके वीरोचित गुणों में सहृदयता का लेश ही है, और अब सेनापति की कन्या के प्रणय-पात्र होकर भी अपने को बन्दी न समझिए।" फिर उसने झट सैनिक को बन्धनमुक्त कर दिया।

सैनिक कृतज्ञता सूचक मुद्रा से बोला—तुम्हारा अनु-रोध मुझे स्वीकार है, लेकिन उसके लिए यह उपयुक्त अव-सर नहीं है। समय आने पर सभी क्रियाएँ पूर्ण कर लेना, पर ध्यान रहे, मैं तुम्हारे वीराङ्गना-वेश को ही अधिक श्रेय देता हूँ, और क्या ही अच्छा हो, यदि अब से तुम्हारे दर्शन उसी वेश में हुआ करें।

युवती ने स्वीकारात्मक हुङ्कार के साथ एक भुजाली निकालकर सैनिक को दी और गुप्तमार्ग से निकल जाने को कहकर, बड़ी शिष्टता से प्रणाम करके फाटक से बाहर हो गई।

[५]

"ठहरो!" सरदार ने कहा।

"नहीं, सेनापति की कन्या एक सरदार की आज्ञा

पालन करने के लिए बाध्य नहीं है।" युवती सगर्व उत्तर देकर अपने तम्बू में चली गई।

"हूँहुं। एक अपात्र के प्रेम पर फूली हुई है, देखूँगा।" कहकर तमतमाए हुए चेहरे से सरदार सीधा सेनापति के यहाँ चला गया। सेनापति ने देखते ही उसका बड़े आदर-सत्कार से स्वागत किया। इसके बाद सेनापति ने कहा, "आज सर्वनाश होगया था, पर तुम्हारी स्तुत्य वीरता से समय फिर गया—लाज रह गई। मेरे हृदय में आता है कि अपनी सबसे अमूल्य वस्तु देकर आज तुम्हारा सत्कार करूँ।" सरदार ने कृतज्ञता से मस्तक झुका लिया। सेनापति ने फिर कहना आरम्भ किया, "तुम्हें मालूम है कि मैं अपने पद को जीवन से भी अधिक प्यार करता हूँ। अतएव इस लड़ाई से ही मैं तुम्हें सेनापतित्व प्रदान करता हूँ, और प्रार्थी हूँ कि ईश्वर तुम्हें चिरकाल तक इस पद पर रक्खे।"

"मैं जिस पद के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ, उसका भार लेने का कभी साहस नहीं कर सकता। हाँ, यदि आप देना ही चाहते हैं, तो अपनी बेटी का हाथ देकर सदा के लिए मुझे अपना क्रीतदास बना लीजिए।"

सेनापति शस्त्राघात सह सकता था, पर इन वाक्य-बाणों को न सह सका। वह इस वज्र-प्रहार से व्याकुल हो गया। उसने सक्रोध कहा—हैं, यह क्या? मेरा

अपमान करते हो। याद रक्खो, मैंने यही कहा था कि अपनी सबसे प्रिय वस्तु दे रहा हूँ। लड़की पर मेरा कोई अधिकार नहीं। वह स्वयं कर्त्तव्याकर्त्तव्य समझती है। उसका अस्तित्व किसी के अधीन नहीं है—वह स्वतन्त्र सत्ता रखती है।

"यह तो केवल बहाना है। पिता का ही पुत्री पर अधिकार न होगा तो और किसका होगा? इसके अतिरिक्त वह आपकी परम आज्ञाकारिणी है। प्रस्ताव करने भर की देर होगी।"

'आज्ञाकारिणी है, और मेरे कहने को नहीं टालेगी। लेकिन मै कभी उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को दबाकर कोई काम करने की अनुमति नहीं दे सकता। क्योंकि मैं जानता हूँ मैं ऐसा कोई अधिकार नहीं रखता।"

"आप नहीं कर सकते?"

"करना तो दूर, मैं सच कहता हूँ, तुम्हारे स्थान पर कोई दूसरा होता तो यह तलवार (म्यान से खींच कर) उसका सिर धड से अलग कर देती। अब मैं आज्ञा देता हूँ कि इसी क्षण यहाँ से निकल जाओ, और जब तक विचारों में परिवर्तन न हो, मुझे सूरत न दिखाना।"

"बहुत अच्छा।" कहकर सरदार ऐंठता हुआ एक ओर चला गया।

[६]

मोमबत्ती की रोशनी में युवती ने आँख खुलते ही सरदार के बाएँ हाथ में अपना एक हाथ और दाहिने में चमकती हुई कटार देखी। उसने ज़ोर से उठना चाहा, पर सरदार ने दबा लिया और कहा—अब बतला तो वह गर्व कहाँ गया? अब भी समय है। केवल 'हाँ' और 'न' पर तेरा जीवन और मरण अवलम्बित है। बोल, क्या कहती है? मेरा प्रस्ताव स्वीकार है न?

"रे मूर्ख! सती स्त्रियाँ दो से प्रेम करना जानतीं ही नहीं। तुझ-सा कायर जन्मान्तर में भी उनके हृदय-सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं हो सकता। एक नहीं, हज़ार बार मारने पर भी यह आशा छोड़ दे कि मेरे इन शब्दों में कभी किसी प्रकार का अन्तर होगा।"

असफल सरदार, पैर से कुचले हुए सर्प की भाँति अपमान से तिलमिला उठा, और कटार चलाना ही चाहता था कि सेनापति ने घुसकर उसका हाथ पकड़ लिया। सिपाही उसे बाँध ले गए।

[७]

पहले दिन हाथ आई हुई विजय-श्री के खो जाने से आज सैनिक-पक्ष के वीर बड़े उत्साह से लड़ते थे। सैनिक और युवती का मोर्चा आज आमने-सामने था, लेकिन दोनों इधर-उधर वार कर रहे थे। धीरे-धीरे लड़ाई ने

ऐसा भीषण रूप धारण किया कि अपना-पराया न सूझ पड़ने लगा। दोनों सेनाएँ ऐसी गुँथ गई कि एक दूसरी का ज्ञान न रहा। इसी समय युवती के हाथ से चलाया हुआ भाला सैनिक के हृदय को पार कर गया और वह संग्राम-भूमि में उन्मूलित वृक्ष की भाँति गिर पड़ा। युवती भी तलवार फेंककर कूद पड़ी। लोग बड़े कौतूहल से देख रहे थे कि उसने ख़ून से भीगा हुआ सैनिक का मस्तक अपनी गोद में रख लिया और रूमाल से पोंछकर हवा करने लगी।

बहुत प्रयत्न करने पर भी जब उसे चेत न हुआ, तो वह बड़े आर्त-स्वर में रोकर कहने लगी—हा! मेरे वीराङ्गनावेश के प्रेमी! क्या अब मुझे भुला ही दोगे? मेरी ओर न देखोगे? क्या मुझे कलङ्किनी बनाने के लिए ही जीवन-दान दिया था? हा! हा!! अब मैं क्या करूँ? यह हत्यारा शूल!

भाले को शरीर से खींचकर अपने माथे पर पटक लिया। भाला खींचने से बेहोश सैनिक चीख़ पड़ा, और उसके मुँह से निकल गया—आहा! बड़ा शीतल है, अत्यन्त सुखकर स्पर्श है! शान्त है, मधुर है! अमृत है, स्वर्ग है—हा, हा, हा! प्रियतमे तुम्हारा दर्शन!!—वह आगे कुछ भी न बोल सका। उसके प्राण-पखेरू उड़ गए और युवती का करुण-विलाप संग्राम की तुमुल-ध्वनि में मिल गया।

मुसाफ़िर

[१]

बड़े दिन की छुट्टियाँ और घर जाने की तय्यारी नौकर पेशा लोगों के लिए अक्सर साथ-साथ शुरू होती हैं। मैं भी अपने स्त्री-बच्चे के साथ स्टेशन पहुँचा। उन्हें तीसरे दर्जे की कशमकश से बचाने के लिए इन्टर का टिकट लिया वर्ना मेरी आदत में मनहूसियत कम है। मुझे चुहल पसन्द है। मुहर्रमी मातम से दिल दूर भागता है। मैं हमेशा ऐसे ही डिब्बे में जगह तलाशता हूँ जहाँ अनोखी-अनोखी चिड़ियां चहचहाती हों।

गाड़ी आकर खड़ी हुई। मैंने खिड़की खोल दी। श्रीमती बच्चे को लेकर एक सीट पर जा बैठीं। कुली ने सूटकेस, बिस्तर और फलों की टोकरी अन्दर रख दी।

उसे पैसे देकर मैं भी भीतर जा बैठा। अकेला होता तो इधर-उधर घूमकर देखता, पर उस इच्छा पर शासन करना पड़ा।

दियासलाई खींचकर मैंने सिगरेट जला ली उसी में धीरे-धीरे दम मारने लगा। डिब्बा बिलकुल खाली था; सिर्फ एक महाशय लालइमली का बढ़िया कम्बल ओढ़े हुए इस तरह सो रहे थे जैसे उसका विज्ञापन करते हों। गाड़ी सीटी देकर चलने ही वाली थी कि वे चौंककर उठ बैठे, पूछा—जनाब, यह कौन सा स्टेशन है ?

मैंने कहा—बनारस कैन्ट।

गाड़ी सीटी देकर चल पड़ी। वे भी जल्दी से असबाब नीचे फेंककर कूद ही तो पड़े। मैंने कहा—यह क्या आप तो चल दिये ?

प्लेटफार्म पर खड़े हो अँगड़ाई लेकर उन्होंने कहा—जी हाँ, आदाब। मैंने भी जली हुई सिगरेट फेंककर चलती गाड़ी से सिर निकालकर कहा—तस्लीमात—पर वह उनके कानों तक शायद नहीं पहुँच सका। गाड़ी स्टेशन से बाहर हो गई।

[२]

हम तीन प्राणी बैठे थे। बच्चा कभी मेरे पास कभी अपनी मां के पास जाकर कहता—उधर ले चलो। उसकी शरारत से जितनी ही हम लोगों को परेशानी होती थी,

उतना ही जी भी वहलता था। कभी, मै हँसता, कभी मेरी स्त्री।

लेकिन यह तमाशा बहुत थोड़ी देर रहा। बच्चा थक कर अपनी मा की गोद में सो रहा। खाली गाड़ी में हम दोनों स्त्री-पुरुष एक दूसरे का मुँह ताकते हुए बैठे रहे।

किसी छोटे स्टेशन पर गाडी रुकते ही एक तेईस-चौवीस साल का युवक डिब्बे में चढ़ आया। मैंने उसके फटे-मैले कपडे और रोनी सूरत देखकर मन ही मन कहा—यह डिब्बा तुम्हारे काविल नहीं मालूम होता, फर्स्ट-क्लास के किसी वर्थ पर जाकर लेटते तो अच्छा होता।

गाडी चल पड़ी पर वह बैठा नहीं, वल्कि खिडकी में मुह डालकर शायद बाहर हरे-भरे मैदानों की ओर ताकता रहा। मैंने इसके दो कारण समझे एक तो यह कि ड्योडे दर्जे में यह किसी कारण वश चढ तो आया पर अव मन ही-मन डर रहा है। दूसरे, शायद नई स्त्री को छोडकर उसे वाहर नौकरी पर जाना पड रहा है, इसी से सिर निकालकर अपने दूरस्थ घर के द्वार की तरफ एक-टक देख रहा है। लेकिन अव गाड़ी कई मील निकल आई और वह अन्दर आकर भी वैठा नहीं तो मुझसे न रहा गया। मैंने धीरे से मुस्कराकर पूछा—वैठिये न, सीटों के प्रति इतना सोचविचार क्यों करते हैं?

उसने बड़े गौर से मेरी ओर देखकर कहा—यह गाड़ी कहां जा रही है साहब ?

मुझे बड़ी हँसी आई, पर मेरी स्त्री ने होठों के सामने उँगली करके उसे प्रस्फुटित नहीं होने दिया। न जाने उस उदास युवक की किस बात ने उसे इस तरह प्रभावित कर दिया था। मैंने हँसी दबाकर पूछा—आपको कहाँ जाना है ?

मैंने देखा—उस युवक की आंखों में आंसू लहराने लगे। वह एक लम्बी सांस खींचकर एक तरफ बैठ गया।

मुझे बड़ी दया आई। मैंने पूछा—क्यों भाई, आप रोते क्यों हैं ?

उसने क्षण भर रहकर कहा—जनाब मैं अभी कुछ घण्टे पहले आया था। अब फिर लौटा जा रहा हूँ।

मैंने पूछा क्यों ?

"मेरी स्त्री मर गई" उसने कहा, "मैं उसे परसों खूब अच्छी तरह छोड़ गया था। कल सुना, वह बीमार है, मैं तुरन्त दौड़ा आया। ठीक आधी रात को घर पहुँचा, पर वह सूना था। घर के कोने-कोने में अंधेरा भरा हुआ था, मेरी स्त्री न थी। मेरे पहुँचने से पहले ही उसका अंतिम संस्कार हो चुका था। मैं उसके शव को भी न देख पाया। उससे अन्त समय दो बातें भी न कर पाई। हममें से

किसी को भी मालूम न था कि परसों की विदा हम लोगों की अन्तिम विदा थी।'

उसका गला रुँध गया, जरा ठहरकर उसने कहा—मृत्यु भी चुनचुनकर खुशबूदार और खुशनुमा फूलों को ही तोड़ती है। उसे ले जाने के लिए जिसने इतनी जल्दी की, वही मेरी तरफ से इतनी उदासीन क्यों है?

स्टेशन आ गया। वह मुझे प्रणाम करके उतर गया। मैंने जाते समय उससे पूछा—आप यहाँ नौकर हैं क्या?

उसने कहा—हाँ, जिसके लिये नौकरी की थी वह रही नहीं, इसलिए अब उसे छोड़ने जा रहा हूँ।

गाड़ी चल पड़ी, मैंने मुँह फेरकर देखा मेरी स्त्री अञ्चल में मुँह छिपाकर रो रही थी। मैंने भी उसे मना नहीं किया।

इलाज

[१]

सुभद्रा की दवा कराने का रामसिंह को शौक भी था और फिक्र भी। स्त्री थी नहीं, लड़के मर चुके थे। उनके प्राणों का प्राण अकेली लड़की सुभद्रा उनके अँधेरे घर की एक मात्र दीपशिखा थी। वह भी दुबली-पतली, चीण और कृश। बूढ़े पिता का शेषअवलम्ब भी चिन्ता की बदली से ढका था। बस, इसीसे उन्हें दवा कराने का व्यसन-सा हो गया। कोई कुछ बता देता उसे वे शक्ति भर उठा न रखते। जिन लोगों का सदा मज़ाक किया था उनकी एक-एक बात धर्मशास्त्र के उपदेशों की तरह पालन की। हकीम, वैद्य से लेकर सभी सयानों के घर का रास्ता छान डाला, पर कोई दवा कारगर न हुई।

एक नहीं पूरे तीन साल से सुभद्रा के शरीर में कीड़ा सा लग गया है। वह बराबर सूखती जाती है। उसके पीले मुख पर चिन्ता का कुहासा छाया रहता है। रामसिंह चुपचाप बैठकर कभी-कभी सोचते—विधाता के विश्व में क्या कोई ऐसी दवा है जो बेटी को अच्छा कर सके?

सुभद्रा पिता के मन का मर्म समझकर हँसने और प्रसन्न रहने की चेष्टा करती, लेकिन कभी-कभी कहना चाहती—पिता जी दवा खोजने में जितने तत्पर हैं, यदि कहीं उसी तरह बीमारी का कारण अनुसन्धान करने लगते?—बस, उसके सूखे होठों पर हल्की-फीकी हँसी की रेखा आकर लुप्त हो जाती। ब्रीड़ा का एक अभिनव भाव, चिन्ता और शोक के भार से दब जाता, उसकी बड़ी बड़ी आँखें जल की बूँदों से छल-छला जातीं। कोई स्मृति उसके स्थिर नेत्रों के सामने अपना चित्रपट रखकर चली जाती।

[२]

"बेटी, पहाड़ चलेंगे।"

"क्यों, पिता जी किस लिए?"

कारण पिता से पहले पुत्री जानती थी। राम-लक्ष्मण की तरह दो पुत्र मरते मर गये तब रामसिंह ने कहीं इस तरह दौड़-धूप करने की जरूरत नहीं समझी। वे ही अब बेटी को लेकर पहाड़ जायँगे।—इस विचार ने पिता-पुत्री

दोनों को व्यथित कर दिया। उन्होंने कुछ भी उत्तर न देकर सुभद्रा को खींचकर पास बिठा लिया। बेटी भी पिता की गोद मे अपना मुँह छिपाकर पड़ रही।

पहाड़ गये। पुरी की यात्रा कर आये। ऐसे-ऐसे स्थान और दृश्य देखे, कि बुढ़ापे मे भी रामसिंह का हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से भर गया। हिमाच्छादित पर्वतशृङ्ग, द्रुतगामी झरने, शीतल जलस्रोत, रौप्य-सलिला सरिताएँ, सफल शान्त वन्यप्रदेश; सागर की हिल्लोलमयी नील जलराशि उन सब में एक नया ही जीवन, एक अनोखा ही उल्लास था, लेकिन सुभद्रा ने उन्हे मरे हुए अरमानो से देखा। किसी तरह का आनन्द, किसी तरह का हर्षोत्साह उसके मलिन मुख को प्रफुल्लित न कर सका।

[२]

पहाड़ पर रामसिंह को एक बहुत पुराने मित्र मिल गये थे। उनका नाम था ठाकुर विजयसिंह। चालीस साल पहले रामसिंह के साथ वे गांव की पाठशाला में प्रविष्ट हुए थे। वे उस समय अच्छी अवस्था मे न थे पर बाद को सरकारी नौकरी में उन्होंने बड़ा रुपया पैदा किया। उन्हीं के साथ-साथ रहने से रामसिंह को किसी तरह का कष्ट नहीं हुआ। ठाकुर विजयसिंह अपने साथ ही उन्हें डाक-बँगले में ठहराते थे। उन्हीं अपने परम सुहृदय मित्र को

पुरी से लौटकर एक पत्र लिख देने के इरादे से वे कलम-दावात लेकर बैठे।

सुभद्रा आकर पिता के पास बैठ गई। वह चुपचाप देखने लगी कि इतने ध्यान से किसे पत्र लिखा जाता है।

रामसिंह ने लिखा—मित्रवर, बेटी को कोई लाभ नहीं हुआ। मेरी बुड्ढी हड्डियों में तो एक तरह का जीवनरस प्रतीत होने लगा है पर वह तो जैसी आकाँक्षाहीन पहले थी, वैसी ही अब है। न कोई इच्छा है, न कोई उत्साह। माया और ममतामय संसार उसके लिए निस्सार-सा है। वह चाहती है तो पिता को, जीवित है तो पिता के लिये, हँसती है तो पिता के लिये और रो पड़ती है तो भी उसी के लिये। नहीं तो उसे न जीने का उत्साह है न मरने से भय। मुझे ऐसा समझ पड़ता है कि जन्मान्तर का कोई सस्कार मेरे वृद्ध शरीर के पीछे पड़ रहा है। यदि मुझे यह विश्वास हो जाय कि मेरे बाद सुभद्रा अच्छी हो जायगी तो, मुझे मरने में जो सुख मिले वह मेरे जीवन के तमाम सुखों से श्रेष्टतर हो। हाय! हर मनुष्य की ज्ञानशक्ति तो यहाँ पहुचने से बहुत पहले ही पगु हो जाती है।

आज तुम्हें पत्र लिखने का एक विशेष कारण भी है। एक बार तुमने कहा था, सुभद्रा को किसी सुपात्र के हाथ सौंप दो। संभव है कौमार्य दूर होने से ही उसकी व्याधि कट जाय।—मैंने भी कई बार यह बात कई तरह से

सोची थी, पर सुभद्रा के उदासीन तथा जीवन्मुक्त भाव और उसकी मरणोन्मुख आकृति ने मुझे वैसा करने से रोक दिया। अब मुझे वही एक उपाय करना रह गया है। कहो, कैसे क्या करूँ? क्या तुम यहाँ आकर मुझे उचित परामर्श नहीं दे सकते?

इसके बाद ज्योंही रामसिंह ने मुँह उठाया, त्योंही सुभद्रा पिता के पास से उठकर घर में चली गई। क्षण भर सुभद्रा की ओर देखकर उन्होंने पत्र पूरा किया। लेटरबक्स में छुड़वा दिया। बैठकर कल्पना के साथ क्रीडा करने लगे। सोचा, बाल्य-बन्धु विजयसिंह आ गये हैं। उनके प्रस्ताव को सुनते ही सुभद्रा का स्वास्थ्य और का और हो चला है। बड़ी दौड़-धूप के बाद बड़ा सुन्दर सा एक सुयोग्य वर तलाश किया है। सुभद्रा बड़ी प्रसन्न है। वह अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर वर को शोभायमान कर रही है। बरात आई, कन्यादान हो गया। जो देखता वही कहता, राधा-माधव की सी जोड़ी मिली है लेकिन विदा के वक्त उनसे कैसे रहा जायगा? क्या कण्व के आश्रम की शकुन्तला बनकर सुभद्रा पति के यहाँ चली ही जायगी? पर इसीलिये तो इतना आयोजन किया था। सुभद्रा प्रसन्न है, बस इसी में तो मेरी खुशी है। बाहर फैली हुई धूप ने अपना स्थान परिवर्तन कर दिया, पर वे अपनी विचारधारा में आकण्ठ निमग्न हो रहे थे।

[४]

सुभद्रा पिता क पास से सीधी अपने सोने के कमरे में चली गई। वहाँ पहुचकर वह बड़े वेग से रोने लगी। रोते-रोते उसकी आँखें फूल गईं। उसका सारा अञ्चल आँसुओं से तर हो गया।

रात को रामसिंह जब भोजन करने बैठे तो सुभद्रा न थी। यह कैसी नई बात? कहीं भी हो, किसी दशा में रहे, पिता जब भोजन करने बैठते थे तो सुभद्रा सदा वहीं रहती। वह अपने हाथों ही उनके लिये थाली सजाती थी। रामसिह का दिल धडक उठा। पूछने पर मालूम हुआ कि उसकी तबियत कुछ अच्छी नहीं है। सिर में दर्द होने लगा है। रामसिह ने सामने की थाली दूर खिसका दी। हाथ धोकर उठ खडे हुए, और बेटी की दशा जानने के लिये दौडे गये।

सुभद्रा ने बाहर आकर कहा—कुछ नही, अच्छी हूँ। पर वह अपना मुँह पिता के सामने न कर सकी। रामसिंह ने उसके आर्द्रकण्ठ से इतना तो अच्छी तरह जान लिया कि वह अपनी तकलीफ प्रकट नहीं करना चाहती। रामसिह ने उस दिन कुछ भोजन नहीं किया। रात भर जागकर सवेरा कर दिया।

[५]

विजयसिह का उत्तर आया। उन्होंने लिखा—घर मे

उत्सव है मैं वहीं जा रहा हूँ। आप भी सुभद्रा को लेकर आइये तो बड़ा अच्छा हो। वहाँ सब बातें आसानी से तय हो जावेंगी। मेरा अनुरोध है, आप जरूर आइये। वहाँ मेरे एक कुशल वैद्य मित्र हैं। उनके हाथ में यश है। उनकी चिकित्सा में कमाल है। उन्हें एक बार सुभद्रा को दिखाने का मेरा बड़ा इरादा है। मैं सदा से ही आयुर्वेदिक चिकित्सा का भक्त हूँ। उसके प्रकृत गुणों ने वैसा करने को मुझे बाध्यकर दिया है।

इतना काफी था। विजयसिंह ने तो पहाड़ी बीहड़ रास्ते से होकर अपने घर बुलाया था, यदि इसी तरह का आश्वासन देकर स्वर्ग से पुकार आती तो भी वे जरा सोच विचार करते, इस पर कोई विश्वास नहीं कर सकता। वे सुभद्रा को साथ लेकर चल पड़े।

आश्विन का आरम्भ हुए डेढ़ हफ्ता हुआ था। गंगा का विस्तार अभी तक खूब था। दिनभर बैलगाड़ी पर रास्ता तय करके तीसरे पहर वे एक निर्जन घाट पर उतर पड़े वहां न वृक्ष की छाया थी, न किसी मकान का आश्रय। सुभद्रा दिन भर गाड़ी के झूले में पड़े-पड़े व्याकुल हो उठी थी।

रामसिंह बेटी के सूखे हुए होंठ देखकर और भी चिन्तित हो उठे। सोचा, थोड़ी देर में सध्या हो जायगी। ओस पड़ने लगेगी, कहीं उसे कुछ हो जाय? गाड़ीवान

को रोककर स्वयं नाव लेने के लिए मल्लाहों को पुकारने ग`.

एक बड़ी सी नाव किनारे आकर लग गई। वे झटपट सुभद्रा को लेकर उसमें जा बैठे। उन्हें एकएक क्षण कष्ट-कर हो रहा था। मगर मल्लाह मजे से तमाखू भर-भर कर पी रहे थे। उन्हें जैसे नाव छोडने की क़तई फिक्र न थी। रामसिंह ने वेचैन होकर पूछा – क्यों जी अब देर क्यों कर रहे हो ?

एक मल्लाह ने खूब जोर से चिलम में कश मारकर आधा धुँआँ पेट मे पचाने के बाद कहा—चिन्ता किस बात की बाबूजी, अभी रस्सा उठाया और उस पार। एक-दो मिनट और देख लें कोई और भूला भटका मुसाफिर आ जाय। यही आखिरी खेवा है।

रामसिह ने फिर कहा—हमें दूर जाना है। इस बात का ख्याल रखना। हमें जल्दी उतार दोगे तो तुम्हें इनाम दिया जायगा।

मल्लाह—बहुत अच्छा सरकार!

इसी समय थोड़ी दूर पर धूल उडती दिखाई दी। मल्लाह ने पुकारकर कहा—चलो। भय्या! नाव तय्यार है।

जरा देर में एक गाडी आकर खडी हो गई। उसमे से बड़े ठाट-बाट से सजी हुई दो-तीन स्त्रिया उतर पडीं।

एक बाईस-तेईस बरस का रोबीला छोकड़ा भी वहीं बालू में कूदकर खडा हो गया। उनके साथ दो तीन नौकर भी थे उन्होंने लाकर नाव में गलीचे बिछा दिये। सब सामान उतारकर मल्लाहों की मदद से जरा देर में नाव पर चढ गया। वे स्त्रिया और युवक भी आकर बिस्तर पर बैठ गये मल्लाहा ने बड़ी जोर से पुकारकर कहा—'जयभगवती की' और नाव खोल दी।

[६]

नाव लहरों पर खेलती हुई आगे बढ़ रही थी, धुमैले बादल के टुकड़े से छनकर सूर्य की हलकी किरणें लहरों के साथ नृत्य करती हुई सी समझ पड़ती थीं। नदी की प्रबल धारा में कलकल छलछल की आवाज हो रही थी। डाडों का छपछप शब्द सब लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था। पर सुभद्रा का किसी तरफ ध्यान न था, एक-टक होकर वह उस रेशमी पोशाक पहने हुए युवक की ओर देख रही थी।

जरा गौर से देखने से जान पड़ता कि वह युवक भी बार बार नजर बचाकर सुभद्रा को देख रहा था। दोनों एक दूसरे को पहचानने की कोशिश कर रहे थे। सुभद्रा की आँखें छलछला आयी थीं। युवक भी अपने मन के भाव को दबा रहा था।

रामसिंह ने सुभद्रा के सिर पर हाथ रखकर कहा—ऐं बेटी! रोती क्यों है? क्या कुछ तबियत खराब है?

सुभद्रा के मुँह से एकाएक निकल गया—पिता जी! इन्हें तुमने पहचाना? इसके आगे वह बोल न सकी। लज्जा, सकोच और दुख के कारण आँचल में अपना मुँह छिपा लिया।

रामसिंह आश्चर्यविमूढ होकर सुभद्रा की ओर ताकते रहे। उसकी बात का ठीक-ठीक आशय उनकी समझ ही मे न आया। उन्होंने नाव में बैठे हुए लोगों को गौर से देखा पर कुछ स्थिर न कर सके। उस युवक और उन स्त्रियों को पहचानने का प्रयास किया पर निरर्थक हुआ। सुभद्रा ने भी उनसे और कुछ न कहा।

सूरज अस्त हो रहा था। नाव धारा में बड़े बेतुके ढँग से बहकर बीच में कहीं रेती के टीले से अटक गई। मल्लाह कूद पडे और रस्सा लेकर दूर जा खडे हुए। उन्होंने इधर उधर हटाने की बहुत कोशिश की पर नाव किसी तरह निकलती नजर न आई। उन लोगों के प्रयत्न से ऐसा मालूम होने लगा कि शायद वह न भी निकल सके।

रामसिंह बेहद छटपटा रहे थे, पर सुभद्रा को कुछ भी फिक्र न थी। वह एक तरह से निश्चिन्त होकर बैठी थी। अब भी वह बार-बार उस युवक की तरफ देख लेती थी।

रामसिंह ने कई बार पूछा—कहो तो हम सब लोग भी उतरकर जोर लगा दें ? बड़ी देर हुई जा रही है।

एक कम उमर मल्लाह जो अब तक कई बार सुभद्रा और उसके पिता को स्नेह पूर्ण दृष्टि से देख चुका था। उनके पास आकर धीरे से बोला—अब आज यह नाव कहीं न जा सकेगी। अगर आप चाहते हैं तो धीरे से किसी बहाने उतरकर चुपचाप उस कछार में चले जाइए। इस तरफ पानी घुटनों से ज्यादे नहीं है। समझ गए ?

वह मल्लाह आँखों से इशारा करके हट गया। रामसिंह घबरा उठे। सुभद्रा का कलेजा धकधक करने लगा। अब क्या करना चाहिए ? यह बड़ी देर तक उनकी समझ में न आया।

तुरन्त ही रामसिह ने सभलकर कहा—बेटी, उठ तो चल हम लोग उतर चलें।

सुभद्रा का सिर घूम रहा था। वह अचेत होकर गिर पड़ी। उसे मूर्छा आ गई। बड़ी देर तक पानी के छींटे मुँह पर डालने के बाद उसने आंखें खोलीं। पिता ने उसे आश्वासन देकर कहा—पगली हुई है क्या। चल मेरे साथ, तुझे किस बात का डर है ?

सुभद्रा ने कोई उत्तर न दिया। एक हलकी-सी आह खींचकर चुप रही।

[७]

रामसिंह ने कहा—चल बेटी, देर न कर।

सुभद्रा ने एक प्रकार की निश्चिन्तता प्रकाशित करते हुए कहा—जो सब की दशा वही अपनी। अगर भागना ही है तो इन सबको साथ ले लो न।

रामसिंह ने कहा—बस तो फिर अपना उद्धार भी असम्भव हो जायगा।

सुभद्रा—पर पिता जी उन्हें बता देना तो हमारा कर्तव्य है। चुपचाप अकेले अपनी रक्षा का उपाय करके औरों को आपत्ति के मुख में छोड़ जाना कभी उचित नहीं है। आपने शायद अभी पहचाना नहीं, ये कौन हैं।

रामसिंह ने बेटी की ओर आश्चर्यान्वित होकर देखा, फिर पूछा—कौन हैं? कहती क्यों नहीं। शरमाती क्यों है?

नरेन्द्र और कौन—आप इतनी जल्द भूल जाते हैं—कहकर सुभद्रा ने अपना मुँह छिपा लिया।

रामसिंह चौंक पड़े—नरेन्द्र! उपेन्द्र का भाई? इतने बरस बाद तूने कैसे उसे पहचान लिया?

वे झटपट उठकर नरेन्द्र के पास पहुँचे। नरेन्द्र ने खड़े होकर उनका आदर किया।

वह कुछ कहना चाहता था पर रामसिंह ने रोककर कहा—हम लोग नाव पर सकुशल नहीं हैं। यदि शीघ्र ही कोई उपाय न हुआ तो बचना असम्भव है।

कई मिनट तक वे परस्पर बातें करते रहे। उसके बाद नरेन्द्र ने अपने नौकर से कहा—मल्लाहों से जाकर कह दो। अब और अधिक मेहनत न करें। आज हम लोग यहीं रह जायँगे। वे लोग अब सुस्ताकर भोजन-पानी कर लें। फिर चलते-चलते उसके कान में भी कुछ कह दिया।

मल्लाह लंगर डालकर निश्चिन्त हुए। अस्ताचल पर जो सूर्य की लाली थी वह छिप चुकी थी। अन्धकार फैल रहा था। नदी के भयङ्कर शब्द से लोग डर रहे थे। एका-एक हरहर करके हवा का झोंका आया और उसी के साथ ही किसी ने नाव का रस्सा खोल दिया। क्षण भर में वह बड़े वेग से अँधेरे में एक ओर को बह गई। तीन मल्लाहों के स्थान पर अनेक आवाजें आईं—रोको, पकड़ो; पर वे वहीं नदी के हाहाकार में विलीन हो गईं।

(८)

जहाँ से चले थे उसी किनारे फिर सब लोग सुरक्षित पहुंच गए। रात भर सब लोग जगते रहे, अभी तक सब को डर बना था। करीब-करीब सभी भयभीत और दुखित थे। केवल सुभद्रा हर्ष से खिली जाती थी।

नरेन्द्र से पूछने पर जब रामसिंह को पता चला कि वह भी विजयसिंह के यहाँ उत्सव में जा रहा है, तो वे

और भी प्रसन्न हुये। दूसरे दिन सब लोग साथ ही साथ दूसरी नाव पर सवार होकर पार हो गये।

इस आकस्मिक आपदा ने सब लोगों को एक दूसरे से बोलने को बाध्यकर दिया था। नरेन्द्र के घर की स्त्रियाँ भी रामसिंह से बातचीत करने लगीं थीं, पर सुभद्रा और नरेन्द्र में कुछ भी आलाप न हुआ। वे एक दूसरे के लिये पत्थर की मूर्ति की तरह चुप थे।

रामसिंह ने पहुँचते ही विजयसिंह को सारा हाल बतलाकर पूछा—नरेन्द्र सुभद्रा के लिए कैसा वर होगा?

विजयसिंह ने कहा—यह तो बड़ा ही अच्छा है।

पर बाद में जब यह पता चला कि सुभद्रा और नरेन्द्र तो पहले ही एक नहीं कई बार एक दूसरे के गले में माला पहनाकर ब्याह की रस्में पूरी कर चुके हैं, तो रामसिंह और विजयसिंह दोनों के आनन्द का ठिकाना न रहा।

———

आश्रयदान

सौदे के लिये लाई हुई चवन्नी खोकर एक दस-ग्यारह साल की लडकी रोती हुई जारही थी। गली में मुड़ते ही भीड को चीरकर एक लड़के ने उसके सामने आकर पूछा—क्या है ? क्यों रोती है ?

हज़ारो लोगों मे उस दुखिया की कौन ख़बर रखता है ? लड़की ने लड़के की तरफ देखा और फिर रो दिया।

बोल नहीं फूटता ! क्यों रोती है, मरी ?—लडके ने झिड़ककर कहा।

-

लड़की ने मैली ओढ़नी से बड़ी-बडी आँखें पोंछ डालीं। एक-दो-तीन बार ज़ोर ज़ोर से सिसककर कहा—चवन्नी, मेरी चवन्नी कहीं खो गई ! हाय ! अब मैं क्या करूँ ?

लड़के ने कहा—आँखें मूदकर रोते रोते चली जाने से मिल जायगी क्या ? चल, लौट—बता, किधर कहाँ कहाँ गई थीं ?

लड़की आगे आगे और लड़का पीछे पीछे एक जगह से दूसरी जगह जाने लगे।

खोजते खोजते दोनों थक गये। कहीं पता न लगा। लड़की ने लड़के के चेहरे पर एक दृष्टि डालकर मानों यह बात कहनी चाही—अब बता, तेरी अक्ल भी गुम हुई या नहीं ?

लड़के ने लड़की का अञ्चल खींचकर कहा—अच्छा ठहर। यहीं खड़ी रह, मैं अभी आया। लड़का भाग गया। लड़की खड़ी खड़ी उसे देखती रही। ज़रा देर में उसने लौट कर कहा—ले पन्द्रह पैसे हैं लेजा, इतने ही से किसी तरह काम चला ले।

लड़की ने पैसे ले लिये। एक बार फिर लड़के की ओर देखा और हँसकर चलदी।

लड़के ने पुकारकर पूछा—क्यों री ! तेरा नाम ?

वह मैं किसी को नहीं बताती कहकर लड़की पास की दूकान पर सौदा खरीदने लगी।

लड़का टहलता हुआ एक ओर चला गया।

(२)

कुछ दिन बाद वह लड़का अपने घर में ग्रामोफोन

बजा रहा था; और वही लड़की चुपचाप बैठी बड़े ध्यान से गीत सुन रही थी। लड़के ने रेकर्ड पर से सुई उठाकर कहा—कौशिल्या! जायगी नहीं क्या तू?

कौशिल्या जैसे सोते से जागकर बोली—ओफ! देर होगई है! क्या बजा है?

लड़के ने घड़ी की तरफ घूमकर कहा—दस।

कौशिल्या—बड़ा गजब हो गया। कहीं बहू जी लौट आई हों!—ओह! बाहर तो बड़ा अँधेरा हो गया है।

लड़के की मौसी, माया, पास ही दरवाजे में बैठी थीं, बोलीं—कौशिल्या! तू परायी नौकर है। वक्त-बेवक्त का ध्यान रक्खाकर।

लड़की कपड़ा आंखों में देकर रोने लगी।

माया—रोती क्यों है? उठ, चल-जा। मैं लालटैन दिखाये देती हूँ। मकान कहीं दूर तो है नहीं।

कौशिल्या ने रोते-रोते कहा—दस बज गये हैं तो वे जरूर ही लौट आई होंगी।

लड़के ने पूछा—कहां गई थीं वे?

कौशिल्या—मुझे मकान की रखवाली को छोड़कर सिनेमा देखने गई थीं।

लड़का—तब तू यहां क्यों चली आई?

इसका उत्तर कौशिल्या न दे सकी। वह फिर रोने लगी। माया लालटैन ले आईं, बोलीं—जा, मैं दिखाती हूँ।

कौशिल्या रोती हुई बोली—अगर कहीं वे आगई होंगी तो ?

माया—तो क्या करेंगी ?

कौशिल्या—मेरी बोटी-बोटी उड़ा देंगी। अम्मा से यही कहकर वे मुझे अपने साथ लाई हैं। डिपटी साहब भी आज घर पर नहीं हैं। किरण भी उनके साथ गई है।—वे किसी तरह न मानेंगी। हाय! अब मैं क्या करूँ ?

माया—नहीं वे ऐसा कभी न करेंगी ?

कौशिल्या बड़े-बड़े आँसू गिराती हुई खड़ी रही।

माया ने फिर पूछा—डरती क्यों है ? क्या कभी उन्होंने तुझे मारा है ?

कौशिल्या ने अपनी पीठ का कपड़ा हटा दिया। पीठ पर उपटे हुए कोड़ों के चिन्ह देखकर माया ने सिहरकर काँपते हुए। कहा—ऐसी राक्षसी के साथ फूल सी कोमल लड़की भेज दी है। जी चाहता है तेरी अम्मा को इसके लिए खूब कोसूँ।

फिर कहा—खैर बेटी! अब तू देर न कर अभी चली जा, वे आई न होंगी।

लड़की उसी तरह रोती-हुई जाने के लिए बढ़ी। माया ने लड़के से कहा—भय्या! मेवाराम, लो यह लैम्प लेकर तुम ज़रा लिखुआ को पुकार तो दो, वह पहुँचा देगा।

मेवा—मैं ही न जाकर भेज आऊँ ?

मेवा और कौशिल्या दोनों चुपचाप गली से हो कर चले।

कौशिल्या ने कहा—मैं पिछले दरवाजे से गई थी। सदर दरवाजा बन्द था। अगर वह खुला हो तो समझना वे आगईं।

मेवा ने जाकर देखा, सदर दरवाजा खुला था। भीतर रोशनी हो रही थी। यह सुनकर कौशिल्या के आधे शरीर से प्राण निकल गये। उसने विनीत करुण स्वर में कहा—कहो मैं क्या करूँ ?

मेवा ने पूछा—अब क्या करोगी ?

कौशिल्या—यही कि अब इस घर में पैर न दूँगी।

मेवा—फिर, जाओगी कहाँ ?

मेवा ने समझा था डिपटी साहब का घर छोड़कर कौशिल्या के लिये अगर कोई जगह है तो मेवा की मौसी का घर, और वह जाही कहाँ सकती है। कौशिल्या ने उसकी संभावना के बिलकुल विरुद्ध कहा—जी चाहेगा, वहाँ चली जाऊँगी। ठौर की कमी क्या है।—न होगा कहीं सड़क पर पड़ रहूँगी।

मेवा का मुँह उतर गया। उसने कहा—सड़क पर ?

कौशिल्या—और क्या, अब आप लौट जाइये।

मेवा—वहाँ नहीं जाओगी तो चलो मेरे साथ लौट चलो।

कौशिल्या—वहाँ भी न जासकूँगी।

मेवा—वहाँ चलना होगा। मैं पकड़ कर ले चलूँगा।

उस सुनसान अँधेरी गली मे मेवा कौशिल्या का हाथ पकड़कर उसे अपने घर लौटा ले गया। कौशिल्या इनकार न कर सकी। चुपचाप धड़कते हृदय के साथ आँखों में आसू भरे हुए मेवा के पैरों का अनुसरण करती हुई उसके घर लौट गई।

(२)

बरसें गुज़र गई हैं। मेवा कौशिल्या को भूल भी गया होगा, पर कौशिल्या शायद अभी उसे नहीं भूली है। लड़कियां अक्सर यही समझ लेती हैं कि लड़कपन की छोटी-मोटी बातों को जैसे वे याद किये हुए हैं वैसे ही उनके साथी लड़के भी किये होंगे। यही उनका भोलापन है, यही उनकी सरलता है। मर्दों को इतनी फुरसत कहा रहती है कि व सब बातें ज्यों की त्यों सुरक्षित रक्खें।

मेवा चौथा-पांचवा, मिडिल-एन्ट्रेन्स, एफ ए बी. ए हो गया। डिग्री के साथ उसकी महत्वाकाक्षाएँ भी तो बढी हैं। अब वह उस छरहरे बदन की दुबली-पतली दीन-मलीन कौशिल्या की याद में अपनी अमूल्य घड़ियां कैसे खर्च कर

सकता, पर कौशिल्या के लिये वही हरा-भरा संसार है। वह रात को वही स्वप्न देखती है, दिन को वही बातें सोचती है। किस दिन मेवा ने क्या कहा था, और उसका उसने क्या उत्तर दिया था,—यह सोचकर कभी वह प्रसन्न होती है, कभी रोती है और कभी चुपचाप विचारमग्न हो जाती है।

जिसने निराश्रिता कौशिल्या को एक बार आश्रय दिया था, वही फिर भी समय पड़ने पर उसे आश्रय देगा इसपर उसे पूर्ण विश्वास है। इसलिये दुखिया मां के रोने पर वह उसे बड़े गर्व से समझाने लगती मां तुम क्यों चिन्ता करती हो ? सब ठीक ही होगा तब उसकी मां उसके गले में हाथ डालकर कहती—बेटी ! मैं बड़ी अभागी हूँ। मैंने तुझे जन्म देकर मां के नाम को कलंकित ही किया है। मैं तुझे कभी भी किसी तरह का सुख न पहुँचा सकी। मैं भी जानती हूँ कि मेरे रहते तुझे कुछ सुख न मिलेगा। मेरे जले भाग्य के साथ जब तक तेरा सम्बन्ध है तब तक तुझे दुखी ही रहना पड़ेगा।

कौशिल्या मां को रोककर कहती—न मां, ऐसा न कहो। मुझे तो कभी किसी तरह का दुख नहीं है। तुम व्यर्थ ही जी दुखाती हो ?

इसी प्रकार मां-बेटी अक्सर गले मिलकर आंसू बहाया करती थीं।

कौशिल्या की अवस्था सोलह साल की हो चुकी थी, पर बीमारी के कारण उसकी मा की इतनी सामर्थ्य न रह गई थी कि वह किसी तरह लडकी के हाथ पीले कर सके। वह न चारपाई से उठती थी, न मरती ही थी, ऐसा मालूम पडता था जैसे उसके प्राण भी किसी तरह के असमजस मे पड़े हैं।

माँ बेटी दोनों ही को अपार कष्ट था।

(४)

मेवा लॉ-फाइनल की परीक्षा देकर घर आया। घर पर पहले ही से आनन्द-उत्सव मनाये जा रहे थे। दरवाजों में बन्दनवारें झूलती थीं। सभी कमरे सजाये गये थे। सब जगह गुलाबजल छिडका जा चुका था। घर मेहमानों से भरा था। मेवा का हृदय खुशी से उछल पडा, अब क्या देर है तीसरे ही दिन तो उसका व्याह होगा।

उसने अन्दर जाकर मौसी के चरण छुए, फिर आकर बाहर के एक एक लोगों से मिला। थोड़ी देर में बैंड बजने लगा। पान से ओंठ रचाए हुए मेवा मौसी के दिल खोलकर खर्च करने पर मनहीमन मुस्करा दिया। सारे नगर मे धूम थी। मौसी ने रुपये को पानी की तरह बहाया था।

लडकी जिन्होंने देखी थी वे कहते थे वाह! जोडी भी एक ही मिली है। दोनों ही खूब पढे लिखे हैं। दोनों ही

सम्पन्न और प्रतिष्ठित घर के हैं। सुन्दरता में भा वर और वधू दोनों का मेल है।

लडकी और कोई नहीं वही डिप्टी साहब की किरण है।

(५)

अब सिर्फ एक दिन की देर है। बरात की तैयारी में सब की अक्ल खर्च हो रही है। यही सोचा जा रहा है कि बरात का जुलूस किस तरह से निकाला जाय? कौन कौन सा बैंड कहाँ पर रहे? दूल्हे का मोटर किस तरह सजाया जाय। पहले किस सड़क से होकर किस प्रकार बरात चले? कैसी कैसी आतिशबाज़ी कहाँ कहाँ छूटे, किस तरह की टट्टियाँ सजाई जायँ?

लोग बाहर भीतर दौड़ रहे थे। मेवा भी चुपचाप एक-एक पल गिन रहा था। उस समय एक एक मिनट कटना उसे दुश्वार पड़ रहा था। जिस किरण की तारीफ सुनते सुनते वह परेशान हो गया था। वही किरण चन्द घंटों के बाद उसकी हो जायगी। उस घड़ी के लिये वह बडी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था।

उसी समय किसी ने लाकर एक पत्र उसके हाथ में रख दिया। मेवा ने उसे खोलकर पढ़ा, फिर लापरवाही से एक ओर फेंक दिया, पर थोड़ी देर में फिर उठाकर पढ़ा। कुछ देर बैठा बैठा सोचता रहा। न जाने कौन कौन सी बातें उसके दिमाग में चक्कर खा गई। वह कुछ कुछ

उदास हो गया।—फिर तीसरी बार पत्र पढकर अपनी जेब में रख लिया, और बाहर निकल गया।

बरात का समय हो चला पर वर का कहीं पता न था। सब लोग बड़े ताज्जुब मे आ गये। चारों ओर खोज होने लगी। जब सब लोग तलाशकर थक गये तो सब को बड़ी शका होने लगी। मौसी माया, तो यह सुनकर एक अँधेरे कमरे में जाकर रो पड़ीं। वर कहाँ गया यह किसी की समझ में न आता था। सभी कहते थे—वह व्याह से अप्रसन्न भी तो नहीं था फिर गया कहाँ?

जहाँ आनन्द और उत्सव हो रहा था वहाँ क्षण भर में श्मशान का सा विषाद छा गया। सब लोग दुख और चिन्ता से व्याकुल हो उठे। चारो ओर उदासी छा गई।

थोडी देर में मलिनवस्त्रा कोमलांगी कौशिल्या का हाथ पकडे हुए मेवा द्वार पर आकर गाड़ी से उतर पडा। बिजली की तरह यह खबर तमाम घर में पहुच गई। मौसी भी आँखें पोंछकर अपने प्यारे पुत्र को छाती से लगा लेने के लिये दौड़ीं।

मेवा ने द्वार पर आते ही कहा—मौसी को बुलाओ आकर अपनी बहू की परछन करें।

माया को यह देखकर मूर्छा आ गई। वे धडाम से पृथ्वी पर गिर पड़ीं। कौशिल्या ने जल्दी से उनका सिर अपनी गोद में रख लिया। सब लोग चकित भाव से खड़े ताकते रह गये।

आश्रयहीना

(१)

लक्ष्मी की हँसी में एक ढीठपना था । जो लड़का-लड़की उसके पास आ जाता, उसे पहले शर्म के मारे झेंपना ही पड़ता । लेकिन यह सकोच का संकट लक्ष्मी अधिक न ठहरने देती । जितना ही वह भागकर पिण्ड छुड़ाना चाहता, उतना ही वह उसे और खिझाती । इससे थोड़ी देर भी उसके यहाँ आने से कोई भी लड़का लड़की उसे प्यार करने लगता था । लक्ष्मी का बच्चों के लिये जो स्वभाविक प्रेम था, वह उसकी हँसी में छलकता था । इस वात्सल्य-प्रेम का कारण शायद यही था कि उसके कोई सन्तान न थी । वह और उसके स्वामी व्रजविहारी अकेले उस बड़े से घर मे रहते थे । जब वे काम पर चले जाते

तो लक्ष्मी का अधिक समय सिलाई-बुनाई में जाता था। इस गृहस्थी के झंझट में भी वह बच्चों के साथ खेलने को सदा लालायित रहती।

दिन भर के एकान्तवास के बाद शाम को लक्ष्मी की चञ्चल दृष्टि दरवाजे की ओर लगी थी। किसी के पैरों की आहट में उसके कान खूब सतर्क थे। —जाकर पलँग बिछाया, चूल्हे की आँच को ठीक किया, दीपक की बत्ती को उसकाया, पर एक कान और एक आँख बराबर अपने काम में लगे थे। वह एकाएक उठकर द्वार के पास जा खड़ी हुई। दराजों में आँख डालकर चुपचाप मुस्कराती हुई खड़ी हो गई। पद-ध्वनि पास आते ही किवाड़ खोल दिये और हँसकर देरा की कैफ़ियत तलब की, पर आज स्वामी ने बदले में गले में बाहें डालकर उसे प्यार नहीं किया—एक बार भी भुज-बंधन में कसकर यह नहीं कहा कि, 'अब कभी देर न होगी।'

उन्होंने उसके हृदय की परिभाषा जरा भी न समझकर साधारण भाव से गलती स्वीकार कर ली, कह दिया—क्या किया जाय नौकरी में देर-सवेर क्या ?

लक्ष्मी का विकासोन्मुख हृदय-कमल श्रीहीन और निष्प्रभ हो गया। वह चुपचाप जाकर अपने काम में लग गई। ब्रजविहारी जाकर कमरे में लेट रहे।

लक्ष्मी के फिर पुकारने पर उठ बैठे। नित्यकृत्य सध्या-वंदन के उपरान्त भोजन किया। किसी काम में प्रत्यक्ष रूप से किसी तरह का व्यतिक्रम नहीं दिखाई पड़ा। लेकिन उनकी चिरसगिनी लक्ष्मी को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि आज शुरू से आखिर तक तमाम कामों मे एक प्रकार की टालमटूल और अव्यवस्था रही है। इसमें संशय नहीं कि उदासी का कोई बड़ा कारण है। लक्ष्मी जितना ही इस बात को सोचने लगी उतनी ही उसके हृदय मे एक प्रकार की अशका आकर घनीभूत होने लगी। उसने कई बार पूछना चाहा पर यह सोचकर रुक रही—यदि बतलाने काबिल होती तो वे ख़ुद ही क्यों छिपा रखते।

भोजन के उपरान्त उस दिन ब्रजविहारी निकलकर टहलने भी नहीं गये। जाकर चारपाई पर लेट रहे। थोड़ी देर में दबे पैर रखती हुई शकित-हृदया लक्ष्मी भी अपनी उँगलियों में दो बीड़े दबाकर पहुँची। नींद को बुलाने के लिये लेटे हुए स्वामी के मुँह मे जबरदस्ती पान देकर, उनके पैर दाबने लगी।

थोड़ी देर बाद अपने दुख का भार अपनी स्त्री के कंधो पर भी डालने के लिये ब्रजविहारी बोले—तुम्हे यह तो मालूम ही है कि कुटुम्ब के नाते मेरे एक चाचा और उनकी आठ-सात साल की लड़की के सिवा कोई नहीं है।

लक्ष्मी—हाँ, सो क्या हुआ?

व्रज०—पंडित राधेश्याम अवस्थी ने तार भेजा है। लिखा है, चाचा की तबियत बहुत ख़राब है, मेरा जाना ज़रूरी है, पर—

लक्ष्मी—हाँ ज़रूरी तो है ही। मैं समझती हूँ कि सवेरे की गाड़ी से चले जाओ।

व्रज०—कल सवेरे ?

लक्ष्मी—जाना तो इसी गाड़ी से था, पर आज नहीं जा सके तो सवेरे किसी तरह रुकना ठीक नहीं।

(२)

चौथे दिन व्रजविहारी लौट आये। लक्ष्मी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—चाचा जी की तबियत अब अच्छी है न ?

व्रजविहारी—हाँ अब वे रोग से बिल्कुल मुक्त हो गये। मैंने तो यहीं कहा था कि वहाँ दौडे जाकर अपना रुपया बरबाद करना है। बूढ़े आदमियों की दवाई करके उन्हें मृत्यु से लडाना उनकी अन्तिम शान्ति को नष्ट करना है। मैं कभी न जाता, पर राधेश्याम ने लिखा था। न पहुं-चने पर निन्दा करते, कहते—"बड़ा स्वार्थी आदमी है। चचा के पास धन होता तो दौडा हुआ आता।" जन्म भर के लिये एक बात कहने को हो जाती, इसीलिये इतना समय और इतना रुपया बरबाद कर आया हूँ।

लक्ष्मी—चाचा के लिये खर्च किये गये रुपये को बरबाद करना क्यों कहते हैं ? ईश्वर इस तरह सभी को तन मन धन से गुरु-जनों की सेवा का अवसर दे। धन कोई अपने साथ तो ले नहीं जाता।—मैं तो कहती हूँ उन्हें कुछ और भेज दीजिये।

व्रज०—अब कहो तो उन्हें स्वर्ग में भेज दूँ।

लक्ष्मी—ऐं, यह क्या कहते हो ?

व्रज०—ठीक ही तो कहता हूँ; उन्हें परलोक सिधारे आज तीसरा दिन है।

लक्ष्मी—तो तुम इतनी जल्दी यहाँ क्यों लौट आये ?

व्रज०—क्या वहीं पड़ा रहता ?

लक्ष्मी की आँखों में आँसू लहरा आये। उसने आर्द्र-कण्ठ से पूछा—उनका संस्कार ?

व्रज०—सब करुणा से करा दिया। यदि मैं उसमें लग जाता तो इतनी जल्दी वापस किस तरह आ सकता ?

करुणा कौन थी यह लक्ष्मी को अविदित नहीं था। वह मनहीमन दुखी होकर सोचने लगी—उस सप्तवर्षीया अबोध बालिका ने अकेले किस तरह सब किया होगा ?

व्रजविहारी ने बतलाया कि वे करुणा का भी प्रबंध अपने मित्र के घर कर आये हैं। उन्हीं के परिवार में वह भी बनी रहेगी।

लक्ष्मी अबतक निस्पन्द निश्चल, रुआसी किन्तु शान्त होकर सारी बातें सुन रही थी, अन्तिम बात से उसका सारा धैर्य छूट गया उसने कपितकंठ से कहा—और चाहे जो हो करुणा को वहाँ छोड आना किसी तरह उचित नहीं हुआ।

ब्रज०—क्यों ?

लक्ष्मी—इसलिये कि अभी वह एक दम अनाथ नहीं हो गई। भाई के घर के द्वार उस दुखिया के लिये मैं किसी तरह बन्द न होने दूँगी।—जाओ, जाकर तुम कल ही करुणा को ले आओ।

ब्रजविहारी का स्वभाव चाहे जैसा रहा हो, पर लक्ष्मी जहाँ पर अड जाती, वहाँ उन्हें कर्तव्य-मूढ़ हो जाना पड़ता। उसका शासन उनके ऊपर कभी कभी बहुत कड़ा हो जाता था, पर स्त्री की जिद रखना उनके स्वभाव में एक गुण जरूर था। वे लक्ष्मी के आँसुओं को अपने रूमाल से पोंछ कर कमरे में जाकर आराम करने लगे।

(३)

प्रेमलता ने रात को राधेश्याम से पूछा—क्या करुणा को सचमुच भेज ही दोगे ?

राधेश्याम—और उपाय ही क्या है ? करुणा ब्रजविहारी की बहन है, वे उसे ले जाना चाहते हैं, तो हम किस तरह मना कर सकते हैं ?

प्रेमलता—मैं भी जानती हूँ उनकी बहन है; पर क्या भाई ने ही उसे यहाँ नहीं रक्खा था। तुम कहते थे वह अब यहीं रहेगी। अगर यह सब न कहते तो उमियाँ को जवाब क्यों दे देती। बताओ, बबुआ को कौन खिलायेगा? उमियाँ अब डिप्टी साहब का घर छोड़कर क्यों आने लगी। उसके मिजाज तो दो ही दिन में आस्मान में चढ़ गये हैं।—जाओ जाकर साफ़-साफ़ उनसे कह दो, यह नहीं होगा। करुणा किसी तरह अब नहीं जा सकेगी। अगर तुम्हें मित्र के सामने लाज आती हो तो मैं जाकर कह दूँ, कि पहले क्यों नहीं सोच लिया था।—सोचा होगा लेजाकर उसी से सारा काम लिया करेंगे। घर में नौकरनी की फ़िक्र कम हो जायेगी।

राधेश्याम स्त्री की दूरन्देशी पर मनहीमन कुपित होकर कर्कश स्वर में बोले—चुप रहो। अपनी दलीलें मेरे सामने पेश न करो। मैं जैसा उचित समझूँगा करूँगा।

प्रेमलता ने बच्चे को आँचल के भीतर एक बार दबा कर, हाथ नचाते हुए पूछा—मैं भी तो सुनूँ तुम्हारा वह उचित कैसा है? बच्चे को रखने का इन्तज़ाम कर लिया है? नहीं तो मैं साफ़ कहे देती हूँ, दफ़्तर के वक्त पर रोटी की आशा न करना।

राधेश्याम ने खीझकर उत्तर दिया—सब समझ लिया है। करुणा कल जायगी, कल जायगी, वह अब यहाँ किसी

तरह नहीं रहसकती ।—इसके बाद वे करवट बदलकर लेट रहे। प्रेमलता पद-मर्दिता सर्पिणी सी क्रोध के कारण स्वामी के दब्बूपन को धिक्कारने लगी।

(४)

करुणा शाम से ही भाई के साथ जाने को आनन्द से उछल रही थी। उसके अबोध अन्तःकरण में न जाने किसने यह बात कह दी थी, कि भाभी के पास उसके अनाथ और दुखिया जीवन के लिये बडा सुन्दर आश्रय है। वहाँ पहुँच जाने के बाद उसके सारे क्लेश दूर हो जावेंगे, पर यह किसे मालूम था कि वहाँ पहुचना ही एक दुष्कर बात है। उस अनाथिनी बालिका की दुधमुँही इच्छाओं को खण्ड-खण्डकर डालने के लिये, न जाने कितनी क्रूरताओं का संचय हो रहा था?

सबेरा होते ही जब ब्रजविहारी ने राधेश्याम को पुकार कर कहा—वक़्त हो गया है। करुणा को जल्दी भेजो। करुणा उस समय आँखों में आँसू भरकर चुपचाप नीचे के अँधेरे खड में मन मसोस रही थी। गरीब ने पड़ोसिन बुढ़िया की सहायता से कल ही अपने कपड़ों की एक छोटी सी गठरी बाँध ली थी, उसी गठरी पर मुँह रखकर वह सिसकने लगी।

"भेजता हूँ"—कहकर राधेश्याम ने प्रेमलता से पूछा—कहाँ है, लड़की को तय्यार नहीं किया?

प्रेमलता—मैं क्या जानूँ ? तुम सब लोग उसके ज्यादा सगे हो। ज़रा जाकर पूछो तो कहती क्या है, वह उन अपने भाई के साथ जाना भी चाहती है ?

राधेश्याम—क्यों नहीं जायगी। उसे जाना पड़ेगा। तुम्हारी यह सब हरकत मुझे पसन्द नहीं है। जाओ, जाकर जल्दी उसे भेज दो।

प्रेमलता मारे क्रोध के रोने लगी, बोली—मेरी हरकत है, तो तुम्हीं जाकर क्यों नहीं भेज देते। मैं इस झमेले में नहीं पड़ती।

उधर व्रजविहारी जल्दी कर रहे थे। राधेश्याम स्त्री पर झल्लाकर बाहर निकल आये, और कहा—कुछ पता नहीं करुणा क्या कर रही है। मालूम पड़ता है, बच्चों में हिल-मिल जाने से घर छोड़ने को उसका जी नहीं होता। फिर पुकारा—करुणा ! करुणा ! बेटी, चल तो इधर !

करुणा सजल आखों को झुकाये हुए धीमे पैर रखती हुई आकर खड़ी होगई। गाड़ी का वक्त हो गया था। व्रजविहारी करुणा के गालों पर आँसू की धारें देखकर बोले—रोती क्यों है पगली ? कल तो चलने के लिये इतनी उतावली हो रही थी। अच्छा, जा रो मत, मैं तुझे जबरदस्ती न ले जाऊँगा।

व्रजविहारी तांगे पर बैठकर चल दिये। करुणा का

संकोच, विच्छू का डंक होकर, उसके शरीर में बुरी तरह चुभ गया, पर अब क्या हो सकता था।

(५)

'ब्रजविहारी अकेले लौट आये तब लक्ष्मी का हृदय ग्लानि और क्षोभ से दो टुकडे हो गया। उसने मन ही मन अकृतज्ञ छोकरी के उद्दण्ड स्वभाव की बुरी कल्पना करके उसे अपने मन के बाहर ठेल रखने का प्रयत्न किया। थोड़े दिनों में करुणा दया का पर्य्यायवाची कोश का एक शब्द मात्र रह गई।

कुछ महीनों के बाद ही लक्ष्मी के पुत्री पैदा हुई। उस समय हँसी करते हुए ब्रजविहारी ने कहा—लो अब करुणा तुम्हारे घर ही में आगई।—अपनी लडकी का नाम तुम यही रखना।

लक्ष्मी ने होठों के सामने उँगली खड़ी करके चुपकरते हुए कहा—नहीं, वह नाम न लो।—ईश्वर न करे—

आगे के शब्दों को उसने अपनी जीभ से काटकर रोक दिया। इस नवजात कन्या को पाकर तो करुणा की सचमुच कोई जरूरत नहीं रह गई थी। लेकिन विधाता को यह कब मजूर था। वह कन्या संध्या के तारा की तरह अपना प्रकाश दिखाकर शीघ्र ही अस्त हो गई। लक्ष्मी के प्राणों का वह आधार भी उससे पृथक कर लिया गया।

इस नये दुख से तो उसका जी किसी तरह समझाये न समझता था।

पत्नी का जी बहलाने के लिये ब्रजबिहारी काम का बहाना करके करुणा को लिवाने चले गये। सोचा था, इस तरह एकाएक करुणा को ले आने से लक्ष्मी का जी हल्का हो जायगा। वे चाहे जैसे लोभी हों,? अपनी लक्ष्मी के लिये लक्ष्मी का कतई ख्याल नहीं करते थे। स्त्री उन्हें प्राणों के मोल थी। उसीसे उनका सोने का संसार बना था।

ब्रजबिहारी राधेश्याम के यहाँ पहुंचे, पर अब वहाँ करुणा कहाँ थी? मालूम हुआ वह तो छः सात दिन हुए न जाने कहाँ गायब हो गयी। तब से बहुत कोशिश की गई पर कोई पता नहीं चला। ब्रजबिहारी मनही मन बहुत दुखी हुए, पर पता नहीं यह दुख उनका करुणा के दुर्भाग्य के लिये था अथवा अपनी लक्ष्मी के जीवहलाव का साधन न जुटा पाने के लिये। जिस मित्र ने कृपा करके उनके कहने से एक अनाथ बालिका को आश्रय दिया था; उससे किसी तरह का जवाब तलब करते उनसे न बना। बहन खो गई, पर भाई का मुँह न खुला। अनाथ लड़की का भाई बनकर उसके लिये कुछ करना ब्रजबिहारी जैसे भाई के लिए भयङ्कर अपमान था। वे चुपचाप लौट पड़े।

(६)

लक्ष्मी ने करुणा के लिये जो धारणा बना ली थी;

उसमें अगर एकाएक वह आजाती तो शायद लक्ष्मी तुरन्त ही उसे हृदय से न लगा पाती। पहली बार उसने आने से इनकार कर दिया था, यह अभी वह भूली न थी। इसी लिये जब ब्रजबिहारी ने करुणा की दुखद कहानी सुनाई, तो लक्ष्मी को प्रतीत हुआ, कि उसे यही होना चाहिये था।—लेकिन यह कठोर भाव स्थिर न रह सका। उसके स्थान पर शीघ्र ही करुणा की अवस्था का दयनीय चित्र खिंच गया, और जैसे ही जैसे समय बीतने लगा करुणा के सम्बन्ध में जानने के लिये उसकी चिन्ता बढती गई। अक्सर दिन मे बैठकर, रात में लेटकर, वह इस अभागी बालिका के अपरिचित भाग्य की बात सोचकर मनही मन शोक से उच्छ्वसित हो उठती थी।

इन अनेक चिन्ताओं से घिरे रहने के कारण लक्ष्मी की दशा दिन-दिन बिगडने लगी। उसके सूखते हुए शरीर की मलिन छाया से डरकर ब्रजबिहारी भी अपनी बुद्धि पर खींझते और अक्सर सोचा करते—मैं ही तो करुणा को वहाँ छोड आया था। उस समय यदि लक्ष्मी की बात मानी होती तो आज करुणा कहाँ जाती। उन्हें विश्वास हो गया था, कि लक्ष्मी की दशा बहुत कुछ करुणा के कारण खराब हो रही है।—इतने दिनों बाद वे करुणा का मूल्य समझ पाये थे।

राधेश्याम को चिट्ठी लिखी। पुलिस में इत्तला करायी।

अखबारों में छपवा दिया, पर कहीं करुणा का पता न चला। इधर लक्ष्मी के स्वास्थ्य के लिये ब्रजविहारी को उसे पहाड़ ले जाना पड़ा। वहाँ कई महीने बिताए पर कोई विशेष लाभ दिखाई न दिया। फिर वापस लौट आना पड़ा।

लौटते ही ब्रजविहारी को एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी करुणा की ओर से किसी ने लिखकर भेजी थी। करुणा घर छोड़कर खुद न भागी थी। प्रेमलता ने ही अपने मामा के यहाँ देहात में उसे भेज दिया था। उस सबका जिक्र करते हुए लिखा था, तुम जल्दी चले आओ नहीं तो ये लोग करुणा की बलि दे देंगे। प्रेमलता के मामा का एक लड़का है—वह पागल है। विवाह-संस्कार द्वारा उसके पागलपन का भूत उतारने के लिये करुणा को लाया गया है। करुणा का जीवन नष्ट करके उसे उबारा जायगा। अभागी करुणा कहती है आप उसके भाई हो, यदि यह न भी हो तो मनुष्यता के नाते करुणा के उद्धार का कोई उपाय करना जरूरी है। समय बहुत थोड़ा है, आपको आठ दिन के अन्दर ही आजाना चाहिये। इसके बाद करुणा न मिल सकेगी। एक अभागी अबोध बहन का भविष्य आप के हाथ में है, वह अभी शादी का अर्थ नहीं जानती। जिस पागल के डर से उसे मूर्च्छा आ जाती है वही उसका पति होने जा रहा है। उसकी दशा देखने से ही उसकी यन्त्रणा का अन्दाज हो सकेगा, इत्यादि।

पत्र पढ़कर ब्रजबिहारी के होश-हवास गुम हो गये। आठ दिन का समय दिया गया था, पर चिट्ठी को आये पूरे तीन महीने हो चुके थे। अब क्या किया जा सकता था। राधेश्याम की धोखेबाजी पर दांत कटकटा कर वे न जाने क्या-क्या बक गये। उसी क्रोध के दुर्निवार आवेग में उन्होंने राधेश्याम को मुकदमा चलाने की धमकी देते हुए एक बड़ा कड़ा पत्र लिखा और आप स्त्री की उचित व्यवस्था करके करुणा की खोज में देहात को चलदिये। अभी तक लक्ष्मी को उन्होंने कुछ भी नहीं बताया था।

(७)

ब्रजबिहारी देहात पहुँचे। बहुत कोशिशें कीं पर इससे ज्यादा पता न लगा कि करुणा ब्याह होने के पहले ही से गायब है, लेकिन उन्हें इस पर कतई विश्वास न हुआ। यद्यपि विवश होकर लौट आये। राधेश्याम घर पर पहले ही से मौजूद थे, आते ही उन्होंने अपनी निर्दोषता के अनेक प्रमाण दिये, पर करुणा के विषय में उन्होंने भी वही बात कही। एक दिन अकस्मात सन्ध्या समय भले घर की दो-तीन लड़कियों के साथ करुणा आ पहुँची। किस तरह अनेक कष्टों को सहती हुई करुणा उन्हें यात्रा में मिल गयी थी, यह बतलाकर वे लौटने लगीं तो ब्रजबिहारी ने उन्हें अनेक धन्यवाद देकर विदा किया।

करुणा सचमुच इन डेढ़ दो सालों में करुणा के योग्य

हो गई थी। शरीर की एक एक हड्डी निकल आयी थी।—व्रजविहारी सजल नेत्रों से बड़े प्यार के साथ उसे अन्दर ले आये।

लक्ष्मी ने सुना करुणा आयी पर अब उसे देखने का ज़रा भी चाव बाकी नहीं था। उसने स्वामी से यह भी नहीं पूछा कि करुणा को किसने बुलाया। वह क्या करने आयी है? पर उस छोटी सी स्नेहवञ्चिता बालिका को परमात्मा ने काफी बुद्धि दे रक्खी थी। उसने न समझ कर भी जैसे लक्ष्मी के मन का भाव, उसका रूठना, अच्छी तरह समझ लिया। किसी पुरातन संस्कार ने जागृत होकर उसे लक्ष्मी के अन्तःकरण में निभृत प्रेम के उज्ज्वल रूप के दर्शन करा दिये। बरसों साथ रहकर भी व्रजविहारी जिस लक्ष्मी के केवल बाह्य सौंदर्य पर मुग्ध हो सके थे, उसी के छिपे हुए अनन्त सौंदर्य को एक ही दृष्टि में अबोध करुणा ने भली भांति समझ लिया।

व्रजविहारी कई दिनों की परिचर्या के कारण बेतरह व्यस्त हो गये थे। वे आरामकुर्सी पर ढुलक कर सो गये, करुणा बराबर चारपाई के पास बैठी रही। रात्रि के शेष भाग में जब लक्ष्मी ने आंख खोलकर देखा तो कृशांगी करुणा उसकी चारपाई के पास निश्चल होकर बैठी थी। अब लक्ष्मी से किसी तरह न रहा गया। हाथ बढ़ाकर उसे अपनी गोद में खींच लिया। दोनों के

हृदयों का चिरसञ्चित अश्रुभण्डार मौनमिलन में बहकर एक हो गया।

उषा की उज्ज्वल-प्रकाशरेखा में चिरन्तन प्रेम का यह अपूर्व दृश्य देखकर व्रजविहारी ने अलसित पलकों को इसलिये बन्द कर लिया कि उन्हें और कुछ देखने की इच्छा नहीं रह गई थी। केवल कानों में करुणा के भरे हुए कण्ठ की आवाज पड़ी—"भाभी!"

ओह! उसमें कितना माधुर्य था!

भविष्यवाणी

[१]

अठारहवीं सदी के सध्याकाल में फ्रांस के मार्टिङ्क नगर में एक लड़की रहती थी। ऐसी सुन्दर जैसे गुलाब का फूल, ऐसी कोमल जैसे मृणाल की शाखा। उसका नाम—हाँ, उसका नाम था जोसेफ़ाइन।

वह एक अफ़सर की लड़की थी। उसने गाना और कशीदा काढना, यही दो काम सीखे थे। उसका कण्ठ गाने ही के लिये ढला था। उसकी उँगलियाँ उलझे हुये रेशमी धागे को सुलझाने के लिये ही बनी थी। और बातों से उसे उतना ही काम था, जितना चाँद को सूर्य से।

वह पन्द्रह साल की थी, जब एक दिन एक बूढ़ी औरत ने आकर उसे देखा। बूढ़ा भविष्यकथन में होशियार थी, उसने बतलाया—तेरी शादी दो बार होगी।

लड़की का मुँह लज्जा से लाल हो गया, पर उसकी आँखें कौतूहल से नाच उठीं। आगे सुनने के लिए वह व्यग्र होकर बैठी। स्त्री ने बतलाया—पहली बार इसी नगर के एक भव्य पुरुष से तेरा विवाह होगा, पर वह तेरे साथ नहीं रह सकेगा। वह तुझे छोड़कर चला जायगा, और अमानुषिक तरीके से उसकी मृत्यु होगी।

जोसेफ़ाइन का चेहरा व्यथा से काँप उठा। स्त्री-सुलभ समवेदना का भाव उसके सारे अवयवों से साफ़ झलकने लगा, पर बूढ़ी इस ओर ध्यान न देकर कहती गई—उसके बाद दूसरी शादी होगी। यह शादी एक श्यामले और ग़रीब युवक के साथ होगी। वह यूरोपीय लोगों के ही वश का होगा। उसका यश खूब फैलेगा। वह अपनी अमर कीर्ति से संसार को भर देगा। तब तू एक बहुत बड़ी स्त्री हो जायगी। तेरा यश साम्राज्ञी से भी अधिक होगा। इस तरह संसार को अपने महान् अभ्युदय से चमत्कृत और स्तम्भित करने के उपरांत तेरे जीवन का करुण अध्याय प्रारम्भ होगा और उसी अवस्था में तू इस लोक से प्रस्थान करेगी।

थोड़ी देर के लिये जोसेफ़ाइन निश्चल प्रतिमा की तरह बैठी रह गई। वह कुछ भी स्थिर न कर सकी कि उसे प्रसन्नता हुई है या दुःख। एक तरह का मानसिक भार उसकी चेतनबुद्धि के कन्धों पर अत्यन्त बोझ लेकर

आ बैठा। उसका जीवन उसीके सामने एक अद्भुत प्रपञ्च समझ पड़ा।

[२]

बहुत दिन नहीं गुज़रे कि जोसेफ़ाइन के माँ-बाप ने एक युवक के साथ उसका विवाह तय किया। युवक उसी नगर में रहता था। वह देखने में सचमुच भव्य था। भविष्य कथन का पहला अंश यहीं से पूरा हो चला। उसके बाद बेचारी जोसेफाइन को यह भी मालूम होते देर न लगी कि उसका अगला अंश भी अपनी अमिट यथार्थता को सार्थक करने के लिये अग्रसर हो रहा है।

उसका पति उसे पेरिस ले गया। वहाँ लेजाकर उसने उसको अनेक कष्ट दिये। हर तरह से सताया और अन्त में बेचारी को सदा के लिये त्याग दिया। वह उस अबला को निराश्रय और अकेली छोड़ गया। उस समय पेरिस में किसी असाधारण सुन्दरी नवयुवती का अकेली रहना निरापद न था। उसके निष्ठुर स्वामी ने यह भी सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि अकेली जोसेफाइन जीवन के असंख्य प्रलोभनों और खतरों के बीच अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकेगी? इसके कुछ ही वर्षों बाद फ्रांस में राज्य-क्रांति का सूत्रपात हुआ और उसमें जोसेफाइन के इस नर-पिशाच पति को प्राणदण्ड हो गया।

मृत्यु के बाद भी वह एक दु:ख इस अवला के लिए छोड़ ही गया। उसके ऊपर राज्य-क्राति का सन्देह हुआ और वह कारागार में बन्द कर दी गई। उसके साथ वहाँ और भी वैसी ही दो चार स्त्रिया थीं। वे वड़ी हताश और दुखी हो रही थीं। जोसेफाइन ने उन्हें धैर्य बँधाया। अपने सम्बन्ध में उसने उनसे कहा—बहिनो! विश्वास करो मैं किसी तरह मर नहीं सकती। मैं फ्रास की साम्राज्ञी बनूँगी।

स्त्रिया इस युवती की अलौकिक महत्वाकाचा पर मन ही मन आश्चर्य कर रही थीं।

कारागार में भी भविष्य की सुन्दर कल्पना से उसका हृदय प्रफुल्लित रहता था। उसने वड़े से वड़े कष्ट को सहकर भी वहा साहस नहीं खोया। आखिर एक दिन वह मुक्त कर दी गई। वह जिस स्वाधीन जीवन की आशा से खुश थी, वह अनन्त कष्ट, असख्य असुविधाएँ और ग़रीबी के मुश्किल से कटनेवाले दिन लेकर उसके सामने आ पहुँचा। पर उन तमाम यन्त्रणाओं ने भी उसे विचलित न कर पाया, वह असीम साहस और अटल दृढता के साथ उनका मुकाबिला करती रही।

[३]

पेरिस के एक छोटे से मकान में वही अनुपम सुन्दरी बालिका जोसेफ़ाइन वैधव्य के दिन बिता रही थी।

उसके शरीर और उसके साज, सामान में ग़रीबी और दुःख की छाप लगी हुई प्रत्यक्ष मालूम पड़ती थी, पर इस समय भी उसके अन्त करण में भविष्य की एक उज्वल प्रकाशरेखा जगमगा रही थी, जो बाहर से अदृश्य थी। उसी, केवल उसी अवलम्ब के सहारे वह कृशांगी विधवा अब तक साहस की मूर्ति बनकर जीवित थी।

एक दिन उसके द्वार पर खटखटाकर एक फौजी सिपाही ने पुकारा। जोसेफाइन ने आकर पूछा—क्या काम है?

सिपाही—हमारे जनरल साहब ने आपको स्नेहाभिवादन के पश्चात् यह तलवार भेजी है। तलवार आपके स्वर्गीय स्वामी की है। आप लीजिये।

जोसेफाइन ने तलवार ले ली। जनरल की इस असाधारण अनुग्रह और सहृदयता पर उसका हृदय निछावर हो गया। उसने मनहीमन निश्चय किया कि वह खुद जाकर इस कृपा के लिये जनरल को धन्यवाद देगी। उसके दुखी जीवन में धन्यवाद के सिवा और प्रत्युपकार था ही क्या? उस जनरल का नाम शायद नैपोलियन बोनापार्ट बताया गया था।

[४]

जनरल की इस कृपा ने जोसेफाइन के हृदय को कृतज्ञता

से भर दिया था । वह उसकी विचारशीलता और सहृदयता पर धन्यवाद देने के लिए उसके यहाँ जा पहुँची ।

जनरल इस सौंदर्य-शशि को आगन्तुक के रूप में देख कर भौचक्का रह गया । उसकी अदा, उसका कोमल कण्ठ-स्वर, उसका रूप-लावण्य उसे वडे ही मधुर और प्रिय मालूम हुए । वह उसकी हर एक वात पर इस कदर मुग्ध हो गया, कि वह अक्सर उसके घर आने जाने लगा । कृतज्ञता ने पहले ही से क्षेत्र तैयार कर रक्खा था । उन दोनों में शीघ्र ही प्रेम हो गया, और दो तीन महीने भी नहीं वीतने पाये कि वे विवाह के पवित्र सूत्र में आवद्ध हो गये । जोसेफाइन का यह दूसरा विवाह एक श्यामवर्ण और साधारण आदमी से हो गया, लेकिन यह विवाह प्रेम का था, इसलिये वह खुश थी ।

पर किसे मालूम था, कि विधाता कितनी जल्दी उसके इस सुख को छीन सकता है । दुर्भाग्य से उनका प्रथम मिलन केवल वारह रातों मे समाप्त हो गया । विवाह के वाद ही नैपोलियन को इटली में फ्रेञ्च सेना का सञ्चालन करने के लिये जाना पड़ा । इसी धावे से नैपोलियन का यश चारों ओर फैला । लेकिन वरावर उसे अपनी प्राणप्यारी सुन्दरी तरुणी स्त्री की याद व्यथित करती रही । जव जोसेफ़ाइन से अलग रहना उसे असह्य हो गया तो उसने उसे वहीं वुला भेजा । इसके वाद फिर

नैपोलियन का नाम विश्व-व्यापी हो गया, और इसके साथ साथ जोसेफाइन की कीर्तिपताका भी सर्वत्र फहराने लगी।

[५]

आखिर वह दिन भी अपने अनुपम आलोक को लेकर आया, जब शाही गिरजाघर की पवित्र और आलीशान दीवारों के अन्दर फ्रांस के सम्राट नैपोलियन बोनापार्ट की बग़ल में घुटने के बल झुककर जोसेफाइन ने प्रार्थना की। नैपोलियन के राज्यारोहण के साथ वह फ्रांस की साम्राज्ञी उद्घोषित की गई, वह सचमुच साम्राज्ञी से भी अधिक थी, वह दुनियाँ के सब से बडे सम्राट की हृदयेश्वरी थी।

लेकिन अभी उस भविष्य कथन का परिशिष्ट-अंश भयङ्कर विडंबना के रूप में आने को बाकी था। जोसे-फाइन ने देखा, किस तरह नैपोलियन के अन्दर धीरे-धीरे उपेक्षा का भाव भर रहा है। यद्यपि अब भी उसके अपूर्व सौंदर्य से उसका दरबार आलोकपूर्ण हो जाता था, उसके आकर्षण की बिजली तमाम लोगों को मुग्ध कर देती थी।

लेकिन उसने उसे छोड़ दिया, त्याग दिया—ऐसी उपेक्षा और हृदयहीनता के साथ त्याग दिया जो एक स्त्री के लिये सब से कठोर आघात है—एक बार फिर जोसे-फाइन अकेली रह गई।

नैपोलियन ने खुद ही उसे कारण बतलाया। उसने कहा—मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। तुम्हारे लिये मेरे हृदय में

वही प्रेम-भावना है और सदा रहेगी, लेकिन विवश होकर मुझे अपने लिये नहीं बल्कि इस सम्राट के मुकुट के लिये, तुम्हें तिलाक़ देनी पड़ रही है। उसकी रक्षा के लिये उत्तराधिकारी की जरूरत है, और जोसेफ़ाइन ! तुम वही युवराज नहीं दे सकीं।—मैं विवश हूँ। मैं कुछ नहीं कर सकता !

परित्यक्ता जोसेफाइन इसके बाद पाँच साल तक और जीवित रही, लेकिन उसने कभी एक क्षण के लिये भी नैपोलियन के खिलाफ कुछ नहीं कहा। वह सदा उसकी मंगलकामना ही करती रही। उसका विजय-समाचार सुनने के लिये वह सदा उत्सुक रहती थी। अन्त समय तक उसकी प्रसन्नता में ही उसने अपने सुख को खोजा था।

उस दिन के भविष्यकथन को पूरा करके वह वाटर्लू की पराजय से पहले ही अनन्त धाम को चली गई।

यात्रा

मैं बाहर से आकर कमरे में बैठ गया। मेरी संभावना के प्रतिकूल भीतर से किवाड़ खोलकर उर्मिला मेरे पीछे खड़ी होकर हँसने लगी। मैंने चौंककर देखा, तो वह कहने लगी—वाह, दूर रहकर तो दूर रहने का बर्ताव किया जा सकता है, पर मुँह के सामने रहकर आँखे चुराने की चाल नहीं चल सकती।

मेरे तन-बदन में आग लग गई। क्या आज मुझे पथ का भिखारी बनाकर उर्मिला के पिता को संतोष नहीं हुआ, जो इस तरह मर्म-पूर्ण वाक्यबाणों का प्रयोग करने के लिये उसे भेज दिया है?

वह मेरी ओर और थोड़ा खिसककर बोली—मालूम पड़ता है अब मैं अजनबी हो गई हूँ? अगर नहीं, तो

आठ दिन से यहाँ आकर भी घर न आने का क्या जवाब रखते हैं ?

किसी निराश हृदय पर गत स्मृति का जो आघात होता है, वैसी ही एक तरह की चोट मेरे हृदय पर लगी। मैंने बहुत सयत होकर जवाब दिया—यही मैं भी तो पूछ सकता हूँ। मैं अनेक झंझटों में फस रहा था, पर आप ही ने अब तक यहाँ आने का कष्ट क्यो नहीं किया ?

अब की बार वह मेरे पास ही पृथ्वी पर बैठ गई, और अञ्चल को खिसकाती हुई कहने लगी—यह दोष भी मुझे नहीं दिया जा सकता। मैं तो आज अभी वृन्दावन से लौट रही हूँ। सुनते ही आपको देखने चली आई। सच कहना क्या आपने भूलकर भी इस तरह मुझे देखने की इच्छा की थी ? तभी तो—

मैंने देखा तो नहीं था पर कह सकता हूँ कि मेरे फड़कते हुए होंठ शांत हो चुके थे। अपनी तमाम पैतृक जायदाद हारकर मैं सताए हुए साप की तरह क्षुब्ध और निराश होकर कचहरी से लौटा था। मैंने समझ लिया था कि मेरे वैभव का सितारा आज अस्त हो गया है, और अब मुझे अपना हितेच्छु समझनेवाला ससार में चाहे हो भी पर अपने जन्मस्थान में तो कोई नहीं रह गया है।

मैंने उर्मिला से कहा—मुझे सचमुच इन आकस्मिक

झगड़ों के कारण किसी का ख्याल करने की फुरसत नहीं थी। आशा है, इसे आप क्षमा कर ही देंगी।

उर्मिला—मैं इस बात की शिकायत ही कब करती हूँ?

मैंने नौकर को आवाज़ देकर पानी लाने को कहा, और एक पास रक्खी हुई किताब के पन्ने उलटने लगा।

उर्मिला 'पानी मैं लिये आती हूँ' कहकर चली गई और एक गिलास में पानी और तश्तरी में कुछ मिठाई लाकर मेरे पास खड़ी हो गई और हँसते हुए बोली—मैं देखती हूँ आपकी बहुत सी बातें तो बदल गई हैं पर अभी डिक्शनरी को उलट-पलट करना नहीं छूटा। इस ध्यानावस्थित पुस्तकावलोकन की बुरी आदत से कई बार मेरे हाथों में दर्द हो चुका है। आज मैं उसी तरह बहुत देर तक खड़ी नहीं रह सकती।

मुझे कई बरस पहले की उर्मिला का ध्यान आ गया। उस समय मैं और वह सगे भाई-बहन की तरह रहते थे। मैंने अपनी सजल आँखों को नीचा कर लिया, पुस्तक बन्द कर दी और उर्मिला से कहा—आपने कोई क़ुसूर तो किया नहीं है, फिर भला खड़े रहने की सज़ा कैसे दे सकता हूँ।

उर्मिला ने बिना कुछ जवाब न दिये तश्तरी मेरे आगे रख दी। मेरा शरीर आनन्दोच्छ्वास से सिहर उठा। वह तो मिठाई थी, ऐसी आदर-भक्ति से दिया गया तिक्त-

कषाय भी कौन अमृत का घूँट नहीं समझेगा। मेरे होठ मेरे अन्तर-उल्लास को छिपा न सके, मैंने स्नेह गद्‌गद् होकर उर्मिला से कहा—अजी, मैंने तो पानी के लिये कहा था, और भला यह मिठाई आपको मिली किस तरह ?

उर्मिला ने हल्की मुस्क्यान के साथ कहा—मिठाई आपको कितनी अच्छी लगती है, यह बात इस घर में एक दिन का आया हुआ मेहमान भी अच्छी तरह जानता होगा, फिर मैंने गलती की हो, ऐसा विश्वास नहीं होता। घर की मैं कौन सी चीज नहीं जानती हूँ ? मेरे गुच्छे में अभी दो चार ऐसी चाबियाँ पड़ी होंगी जिनसे चाहूँ तो आपके बक्सों की तलाशी ले सकती हूँ।

मैंने हँसकर कहा—मिठाई न खाने का अपराध अगर खानेतलाशी का फ़र्द जुर्म हो तो मैं अभी उसे उड़ाए जाता हूँ, पर उर्मिला, अब मेरी मिठाई खाने की वह आदत बिल्कुल ही छूट गई है। बाहर रहता हूँ। वहाँ न इस तरह से कोई खिलाता है, न वह स्वाद ही रहा है। अब तो ज्यादातर मैं नमकीन ही पसन्द करने लगा हूँ।

उर्मिला—हाँ, समय और परिस्थिति से स्वभाव भी बदल सकता है।

मैंने मिठाई खाई। जल पिया। उर्मिला ने लाकर मुझे बीड़ा दिया और कहा—कल आपको हमारे यहाँ आना

होगा। अगर बुलावे की फिर जरूरत हो तो अभी से कह दीजिये। मैं आपकी सवेरे नौ बजे प्रतीक्षा करूँगी।

मैं—अरे, यह क्या कहती हो ? यहाँ वहाँ सब एक ही तो है। और कल तो . . .

उर्मिला—नहीं, अब बहुत देर हो गई है, और आपके किसी तरह के बहाने सुनने और उनका निर्णय करने की मुझे फुरसत नही है। मैं इतना ही कहे जाती हूँ कि कल आपको सवेरे आना पड़ेगा।

उर्मिला चली गई।

(२)

शाम हुई। पूर्णिमा का उजाला फैला। मेरे हृदय-समुद्र मे वाडव की लहरें उमड़ने लगीं। चन्द्रमा में सचमुच सुधा है, और उसकी किरणों में जादू। मेरे जीवन के खारी और फेनिल अन्त करण में किसी अनिर्वचनीय अमृत की वर्षा हुई है।

मेरे जीवन की सब से निराश और दुखमय घड़ियों में ऐसी सुन्दर सुखानुभूति का अन्तर्द्वन्द्व आरम्भ हुआ जो वास्तव में किसी विश्वकवि की अमर लेखनी की सुमधुर कल्पना में ही संभव है। पूर्वजनों की सहगामिनी लक्ष्मी ने मेरे गले से अपनी बाहें खींच लीं थी, और मुझे आनेवाली गंभीर रात्रि के अनन्त अंधकार की ओर ठेल दिया। गृह से निर्वासन, समाज से बहिष्कार, मित्रों से उपेक्षा और

सुजनों से उदासीनता—ओह ! मेरे दो तिहाई जीवन में इनके सिवा और रह ही क्या गया था पर आज उन मित्रों की कड़ुवाहट मे उर्मिला ने थोड़ी सी मिश्री की डलियाँ छोड़कर अपूर्व मिठास पैदा कर दी।

प्रबल आँधी में वृक्षों के रसीले फल झड़ जाने से वास्तविक दुख माली को ही होता है, वृक्षों के चारदिन के मेहमान पक्षियों को नहीं। वे एक वृक्ष को छोड़कर दूसरे पर जा बैठते हैं। उनकी रसीली तान, उनका मीठा राग वहाँ भी शुरू हो जाता है। नौकर-चाकर और स्वार्थी मित्र भी वही पक्षी हैं। मेरे पास अब कुछ नहीं रह गया है, उन्हें अब कहीं अन्यत्र आश्रय खोजना चाहिये, शायद यही सोचकर उन्हें आज दुख नहीं तो चिन्ता अवश्य ही होगी। इसीलिये किसी को भी नींद नहीं आती थी। सब अपने अपने विस्तरों पर करवटें बदल रहे थे। मैं यही सोच रहा था कि उर्मिला के घर जाने का मुझे अब अधिकार कहा है ? एक अकिञ्चन की तरह आतिथ्य स्वीकार करूँगा !, नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। अब वे लोग मेरे कौन हैं ? क्यों मैं उनके यहा जाने लगा ? दरिद्रजीवन गौरव की वस्तु है, पर अपमानित जीवन को कुबेर का खजाना पाकर भी रखने की शक्ति मुझे नहीं है। मैं उसके यहाँ कभी नहीं जासकता।

रात को देर से सोया था, पर सवेरे जल्दी ही नींद

खुल गई। कोई काम था ही नहीं, मैं बाहर टहलने चला गया।

खूब घूम कर लौटा। रेल, रेलकी पटरी, किसानों के खेत सब पार करके नहर के किनारे तक चला गया था। बहुत दिनों बाद ये सब चीजें देखने को मिली थीं। कौन जाने, फिर कभी उन लोगों से बातें हो सकेंगी। बड़े भले किसान हैं। वे अपने जीवन के तमाम रहस्य को सूर्य के प्रकाश की तरह खोलकर रख देते हैं, इसीलिये हम उन्हें अज्ञान कहते हैं। वे सत्य और झूठ को बिना पक्षपात के नापते हैं, हम लोग उन्हें कुशलता से घटा बढ़ा देते हैं। उनकी सरलता मूर्खता समझी जाती है और हमारी छद्मवेशी चतुरता के गले में सभ्यता का सुनहला तौक पड़ा है। पर मेरा अब अपनी गौरवभूमि से सदा के लिये नाता टूट रहा है। जीवन की कशमकश में वहाँ रहकर उदर पूर्ति करनी होगी जहाँ संसार के स्वार्थों का विकट-हास्य हो रहा है।

घंटे ने पीछे से नौ बजाए। मैं मुड़कर दूसरे रास्ते से जाने लगा, पर यह सोचकर कि रास्ते पर तो किसी का अधिकार नहीं है। इधर से ही जाऊँगा। उर्मिला मुझे पकड़ तो लेगी ही नहीं।

बहुत वर्षों बाद मैं उधर से निकला। मकान बिलकुल ही नये ठाट का बन गया था। उन नये नये दरवाजों पर

मेरी नजर पड़कर आपही अपनी हीनता का अनुभव कर रही थी। तीसरे दरवाजे में सामने की ओर मुँह किये हुए उर्मिला बाल खोले खड़ी थी। मेरी सारी दृढता और प्रतीक्षा की जड़ में कपकपी प्रतीत होने लगी। उसने मुझे अच्छी तरह देख लिया। मैंने उसके स्वागत की पुकार का हटर पड़ने के लिये पीठ को थोड़ा सकुचित कर लिया। पर कोई आघातपूर्ण प्रहार नहीं हुआ, और मैं पहले से भी बहुत धीरे धीरे दूर चला गया। अपमान की बला टल गई। जान में जान आई। मैं घर पहुँच गया।

नौकर को बुलाकर पूछा। उसने कहा—कोई भी तो नहीं आया था।

उसकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। एक दिन दो दिन तक प्रतीक्षा की पर कोई नहीं आया। धीरे धीरे उर्मिला के आने की बात स्वप्न की तरह धुँधली हो गई।

(२)

आज कई वर्षों बाद चाची गंगादेवी को देखा। झटपट उठकर मैंने उनके पैर छू लिये। उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए 'बड़ी उमर हो'—कहकर मुझे आशीर्वाद दिया।

न मालूम क्यों मुझे अपराधी की भाँति उनके सामने कुछ भी कहते सुनते न बन पड़ा।

उन्होंने मेरी मानसिक विकृत अवस्था को अच्छी तरह

समझ लिया। वे अपनी चादर को एक ओर खूँटी पर रखकर बोलीं—क्यो भैया केशव! तूने जाने की तय्यारी कर दी है क्या?

मैं—चाची, तुम तो सब जानती ही हो। भला, यहाँ रहकर मैं क्या करूँगा?

चाची—ठीक है, पर इस बार अपनी चाची से भी कोई सलाह लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई?

मैं—इसका मुझे बड़ा खेद है। कई बार मन मे आया कि जाऊँ पर—

चाची—मेरे पास आने में तो कोई सकोच की बात नहीं थी?

मैं—इस भूल को मैं मानता हूँ।

चाची—अब मैं तुमसे यही कहने आई हूँ कि अपना कहीं जाने का इरादा छोड़ दो।

मैं—मुझे दुख है, कि आपकी इस आज्ञा पालन करने का मैं कोई उपाय नहीं देखता।

चाची—उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी होगी। मैं सब कर लूँगी। तुम केवल अपने बँधे हुए बंडल खोलने के लिये नौकर से कह दो।

मैं—मालूम पडता है, अभी आपको परिस्थिति का ज्ञान नहीं है। नहीं तो कभी ऐसा न कहतीं।

चाची—मैं खूब जानती हूँ। बड़े चाचा ने अपने बाद कर्ज के अलावा तुम्हारे बिलसने के लिये कुछ नहीं छोड़ा है।

मैं—हा, और समाज में भी मेरे जैसे आवारा और भ्रष्ट के लिये जगह नहीं है।

चाची—अभी तुम बच्चे हो। समाज की नस नहीं जानते। जिन बातों मे तुम निराशा का समुद्र देखते हो, वहां बहुत थोड़ी मेहनत से सुगममार्ग बन सकता है।

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। चाची गगादेवी पर मेरी बचपन से अपार श्रद्धा थी, पर मैंने मनमें निश्चय कर लिया कि अब मेरा किसी तरह वहाँ रहना नहीं हो सकता।

चाची ने फिर कहा—मेरे निकट तुम अभी बच्चे ही हो जिस दिन अपने पिता के साथ तुम यहा से गये थे, उस दिन जरूर मैं तुम्हारे न जाने का हठ नहीं कर सकी थी। आज वैसा नहीं होगा। मैंने उर्मिला के द्वारा भय्या से कहला दिया है, अब मैं यहीं आकर रहूँगी। वैसे तो मेरा इरादा बद्रीनाथ, पुरी और रामेश्वर जाने का था। लेकिन जब अपना बिछुड़ा हुआ बच्चा आकर मिल गया है-तो मेरे लिये यहीं तीर्थ है। क्या यह उचित है, कि मेरा बच्चा इधर-उधर भटकता फिरे और तीर्थ करती रहूँ? ऐसे तीर्थ-को मैं पुण्यकार्य नहीं समझती। जिस काम के करने से आत्मा को शाति मिले, वही परमधर्म है। जिस दिन

वृन्दावन में मुझे समाचार मिला, कि तुम यहां आगये हो, उसी दिन मैं उर्मिला को लेकर चली आई।

मनुष्य का हृदय कितना कलुषित हो सकता है? मैं सोचने लगा।—जिस तरह उसदिन मीठी मीठी बातें करके उर्मिला मुझे धोखा देकर मेरा अपमान कर गई थी, कहीं उसी तरह आज उसकी बुआ भी तो नहीं जाल बिछा रही है! इस समय मैं यह भूल ही गया कि मैं अपनी चाची के बारे में सोच रहा हूँ।

मैंने देख नहीं पाया। चाची को किसने बाहर से बुलाया और वे उठकर चली गईं।

[४]

उसी दिन चाची आकर मेरे साथ रहने लगीं। एक दिन सवेरे ही उन्होंने मुझसे कहा—तुम्हारी सालगिरह होगी, क्या क्या करोगे?

मैं—जीवन की एक साल और व्यर्थ चली गई, उसका प्रायश्चित्त जैसे कहोगी कर लिया जायगा। अच्छा तो यही हो, कि उसी दिन तुम्हें ले चलकर बाबा विश्वनाथ के दर्शन कराये जांय। फिर वहीं से पुरी और रामेश्वर की यात्रा की जाय। यही जीवन का परमसुख है।

चाची—ऐसी विरक्ति का अभी अवसर नहीं आया है। जब आजायगा उसदिन मैं बिना तुम्हारी अनुमति के भी प्रस्थान कर दूँगी।

मैं—प्रस्थान करदोगी और मुझे साथ न ले चलोगी ? यह तो कभी होही नहीं सकता।

चाची—जब मैं जाने लगूँगी तब शायद तुम्हारा यह हठ भी चला जायगा। यह क्यों समझते हो कि मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध चली जाऊँगी।—अच्छा इस समय तो यह तय करना है कि क्या किया जाय ?

मैं—चाची, इस विषय में मुझसे कुछ भी पूछने की ज़रूरत नहीं। आप जैसा चाहें करें।

मेरी तो समझ ही में यह बात नहीं आई कि इतना बड़ा इन्तज़ाम अकेली चाची ने घर के भीतर बैठे बैठे किस तरह कर लिया ? गाजे-बाजों से, लोगों के आने जाने से, बेहिसाब दावतो से दो तीन दिन के लिये घर रंग-भूमि सा मालूम पड़ने लगा। आदमियों में औरतों में जहाँ कहीं मैं जाता वहाँ चाची की उँगली पर सब काम होते थे।

इस तमाम राग-रंग में उर्मिला के एक बार भी दर्शन न हुए। मैंने समझा चाची ने उसके यहा बुलावा नहीं भेजा होगा। यह बात मुझे अज्ञात रूप से बराबर खटकती रही।

कई दिन बाद मैंने चाची से पूछा—क्यों चाची, मालूम पड़ता है उर्मिला के यहाँ किसी को भेजना ही भूल गईं ?

यह बात मैंने कह तो दी, पर मुझे विश्वास था। चाची से ऐसी भूल होना संभव नहीं है। उनके यहां से खुद ही कोई नहीं आया होगा।

चाची ने कहा—भूल नहीं गई थी, मैंने जानबूझकर बुलावा नहीं भेजा था।

जवाब मेरी संभावना के प्रतिकूल था, इसलिये मैंने पूछा—क्यों ?

चाची—जिसे अपने यहाँ बुलाने के वे खिलाफ थे, उसके यहाँ कैसे आयेंगे ? —यही सब सोचकर नहीं बुलाया। कहो, क्या कोई उलाहना सुनने में आया है ?

मैं—नहीं, मैंने योंही पूछा था।

चाची—मेरी समझ से ठीक ही हुआ है। मैं भय्या की आदत समझती हूँ। उस दिन भी जब उर्मिला तुम्हें बुला गई थी तो उन्होंने ही रोक दिया था।

मैं—चाची ! मैंने तो पहले ही उर्मिला को रोक दिया था। मैंने कह दिया था कि मुझे फुर्सत नहीं है। उसके लिये मानापमान की चर्चा ही व्यर्थ है। —हाँ, इसके मैं भी पक्ष में हूँ। आपने जो नहीं बुलाया यह अच्छा ही किया। उन्होंने हमारे साथ सब व्यवहार भी तो अच्छे ही अच्छे किये हैं।

[५]

चाची ने मुझे भोजन के लिये पुकारा। मैंने जाकर

स्नान-भोजन किया, पर उस दिन चाची से किसी तरह की कोई बातचीत नहीं हुई। शाम को जब मैं घूम कर लौटा तो मालूम हुआ कि चाची उर्मिला के यहाँ गई हैं। मैंने पूछा—क्या कोई बुलाने आया था ?—मालूम हुआ—हाँ, कोई बुला ले गया है, पर कौन था इसका पता नहीं।

मेरे मन में अनेक तरह की कल्पनाएँ उठती रहीं पर मैं यह निश्चय न कर सका कि आज ही चाची के वहाँ जाने का क्या कारण है ? जरूर उसी सबंध में बुलाया होगा। पर क्यों ? यह कैसे मालूम हो।

चाची रात ही को आ गई थीं, पर मुझे मालूम नहीं हुआ। दूसरे दिन उन्होंने ख़ुद मुझे बतलाया कि उर्मिला की तबियत खराब हो गई थी, इसीलिये वे गईं थीं। मैं चुप रहा। एक दिन मैं चाची के पास ही बैठा हुआ था। एकाएक चाची कह उठीं—मालूम पड़ता है विधि का विधान वैसा ही है।

मैंने पूछा—क्या हुआ चाची ?

चाची—केशव! जब तू छोटा था, तब भी अकसर मेरे ही पास रहता था। तेरी माँ ने एक तरह से तुझको मुझे सौंप दिया था। यदि दादा की बदली न हो जाती तो यह बीच का अलगाव भी न होता। यही बात उर्मिला की है। वह भी सदा से मेरी ही गोद में पली है। उसकी माँ केवल दूध

पिलानेवाली थी। मेरे संतान न होने पर भी तुम दोनों के कारण मेरी गोद कभी खाली नहीं रही। तुम दोनों की माताएँ एक बहुत बड़ी बात का भार मेरे ऊपर रखकर मर गईं। उनके रहते वह कुछ कुछ संभव भी थी—पर बीच में वह बिल्कुल ही असंभव प्रतीत होने लगी थी। उनकी इच्छा थी कि तुम दोनों का ब्याह हो जाता और तुम सदा मेरे ही पास रहते। पर जिन परिवारों में सदा से ही वैर-विरोध की खाई पड़ी हो, वहाँ ऐसा साहस एक स्त्री कैसे कर सकती है। इसीलिये अबतक मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया था, पर अब मालूम पड़ता है कि उनकी इच्छा ही ब्रह्मा का विधान थी, तो बड़ी प्रसन्नता होती है।

मैं—पर चाची, ऐसा तो कभी हो नहीं सकता।

चाची—हाँ, हमारे-तुम्हारे या किसी के चाहने से अवश्य ही ऐसा नहीं होगा, पर लक्षणों से ऐसा मालूम पड़ता है कि शायद उन स्वर्ग-गत आत्माओं की मनोकामना पूरी हो जाय।

मैं—ऐसी मनोकामना का न पूरा होना ही अच्छा।

चाची—होगा सो देखा जायगा। यह तो विधाता के हाथ की बात है।

मैंने—आगे और कुछ न कहा, चुपचाप आकर अपने कमरे में किताबें पलटने लगा। मेरे मन में चाची के विवाद की उधेड़बुन बाकी थी। अकस्मात मेरे कलेजे में एक तीर सा

आकर लगा । एक नौकरानी ने बड़े घबड़ाए हुए स्वर में आकर चाची से कहा—बीबी जी, उर्मिला की हालत खराब है। तुम्हें देखने को बुलाती हैं।

चाची—मैं चलकर क्या कर लूँगी । ऐसी अभागी लड़की को मृत्यु ही आ जाय तो मैं ख़ुश हूँगी ।—अच्छा, कह देना आऊँगी।

उर्मिला के लिये चाची की यह मृत्युकामना मुझे अच्छी नहीं लगी, और यह भी अच्छा नहीं लगा कि वे जाने में क्यों देर कर रही हैं! मेरे मन में आया कि मैं खुद ही जाकर उसे देखूँ, पर बहुत सी बातें रोक रही थीं।

आखिर उस दिन चाची नहीं गई । दूसरे दिन गई और थोडी देर में ही लौट आई । मैंने पूछा कहो क्या हाल है ?

चाची—हाल क्या है, अच्छा ही है। मैंने जो कह दिया था कि ऐसी लडकियों का चुनाव मौत नहीं करती।

मैं—भला, वह अभागा क्यों है, चाची ?

चाची—जिसके मां नहीं वह अभागी ही है। दूसरे जहां सगाई लग रही थी, वहां भी अब न होगी। भाग्य-अभाग्य इन्हीं बातों में देखा जाता है।

मैं—सगाई क्यों न होगी ?

चाची ने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल मेरी ओर एक सकरुण दृष्टि-निक्षेप भर कर दिया।

मैंने फिर कहा—खैर, वह अच्छी हो जावे। ब्याह कहीं न कहीं हो ही जायगा। इसे ही लड़की के दुर्भाग्य की निशानी समझ लेना ठीक नहीं है। उर्मिला तो—

चाची—मैं जो कहती हूँ। वह मरेगी नहीं अभी उसके अन्त करण में आशा का बड़ा जोरदार अंकुर मौजूद है। वह धीरे धीरे उसमें प्राण-संचार कर रहा है।

[६]

उर्मिला तो अच्छी हो गई पर समाज के व्यंग्य, और सोसाइटी की कानाफूसी ने उर्मिला के पिता को शय्याग्रस्त कर दिया। बदनामी का रोग उनके शरीर में बड़ी निर्दयता से भिद गया।

उन्होंने कष्ट-सचित संपत्ति देकर भी चाहा कि उर्मिला की सगाई वापस न हो पर एक भी न चली। जो बात उस दिन मैंने सुनी थी वही चर्चा तमाम लोगों में फैल रही थी। मेरे मनमें एकबार आया कि मैं जाकर उस निर्मूल बात का जोरों से खण्डन करके लोगों को मना कर दूँ पर उर्मिला के पिता की करतूतों को याद आते ही वह भाव विलुप्त हो गया।

चाची को उर्मिला ने बुलाया। वे गईं और अपने भाई को देख आईं। उनसे मालूम हुआ कि उर्मिला शीघ्र अनाथ होने वाली है। उसके पिता की यह अंतिम बीमारी है। उनके हृदय पर बड़ा भारी मानसिक आघात

हुआ है। अब तक वे जीवित हैं वह केवल एक संकल्प-विकल्प की वदौलत। कोई वात वारवार उनके मनमें आती है, पर वे अभी तक उसे स्थिर नहीं कर सके हैं।

इसके आगे चाची ने कुछ नहीं कहा। मैं भी यह न समझ सका कि वह क्या वात हो सकती है। शायद जाय-दाद के मवध की कोई वात होगी।

दूसरे दिन एक नौकर भागता हुआ चाची के पास आया और कहने लगा—वीवी जी, भय्या को जल्दी भेज दीजिये, वावूजी वुलाते हैं। उनकी तवियत वहुत खराव हो गई है।—और तुम्हे भी वुलाया है।

चाची ने मुझे पुकारकर कहा—जाओगे? मैं चुपचाप स्तम्भित सा खडा होकर रह गया। मेरी समझ में न आया कि क्या उत्तर दूँ। फिर चाची ने कहा—वे दो-चार घडी के और मेहमान हैं। अत समय भी क्यों वैर-भाव मन में रखते हो। चले जाओ, शायद पुरानी वातों का पश्चात्ताप करें। मरने के समय मनुष्य की चित्त-वृत्ति पवित्र हो जाती है।

मैंने कहा—अच्छा, जाता हूँ।

चाची—हाँ, हाँ, चलो—मैं भी थोडी देर में आती हूँ।

वहां जाकर मैंने देखा उर्मिला के पिता मृत्यु-शय्या पर पडे हुए अन्तिम स्वासे ले रहे हैं। पास ही पृथ्वी पर उन्मूलित लता की तरह उर्मिला पड़ी विलख रही है।

मुझे देखकर वह एक ओर चुपचाप खड़ी हो गई पर शायद उस समय भी रो रही थी। रोगी ने विवर्ण नेत्रों से एक बार मुझे देखा। नौकर ने गंगाजल मुँह में छोड़ दिया तब उर्मिला के पिता ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—अंत समय भी मैं तुमसे एक दान चाहता हूँ।

मैंने पूछा—क्या ?

रोगी—यही तो सोच रहा हूँ कि तुम दे सकोगे या नहीं ?

मैं—आपने दान देने लायक तो मुझे रक्खा ही नहीं; पर फिर भी। –

रोगी की आंखों में आसू आ गये। उसने कहा—यही तो मुझे नही मालूम था।

मैं—पर कहिये। संकोच न कीजिये। देने लायक होगा तो मैं इन्कार नहीं करूँगा।

रोगी—बस, तो इस लड़की को इतना सहारा दे दीजिये कि यह संसार में सुखी रह सके जो इस समय अनाथ और निराश्रय है।

मैं—यह कैसा दान ? यह तो महा अन्याय है। यह भार मैं कैसे ले सकूँगा।—यह आशा तो मुझसे करना व्यर्थ है।

रोगी—तुम्हारे सिवा इसका उद्धार और कौन कर सकता है। तुम्हीं इसका बेड़ा पार लगा सकते हो—बेटी

उर्मिला, इधर तो आ। इनके चरणों पर अपना मस्तक ले आ।

उर्मिला ने पलँग के पास आकर मेरे पैरों पर सिर रखना चाहा, पर मैं जल्दी से हट गया था। इसलिये उस का सिर जोर से पृथ्वी पर लगा और वह उसे पकड़ कर रह गई। इधर पिता ने दो हिचकियां लेकर दम तोड़ दी। उर्मिला चीखकर पिता की लाश पर गिर पड़ी।— मेरी समझ में न आया कि क्या करूँ। मै यही देखने लगा कि चाची कब आती हैं।—पर वे न आईं।

मेरा नौकर दौड़ता हुआ आया और कहा—चाची आरही थीं पर बीच ही में यह समाचार सुनकर लौट गई हैं। आप शव के साथ चलिये वे थोड़ी देर में आवेंगी।

शवका अंतिम सस्कार करके हम सब लोग लौटने लगे तो, उर्मिला पिता की जलसिंचित चिता पर गिर पड़ी और चीखकर रोने लगी—अब मैं कहाँ जाऊँगी? मेरे लिये तो कुछ भी नहीं कहा।

मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैंने कहा—यह क्या उर्मिला! पगली तो नहीं हो गई हो। तुम्हारे तो अब एक की जगह दो-दो घर हो गये हैं।

उर्मिला ने अपने फूटे हुए मस्तक पर हाथ फेरा और मेरे मुँह की ओर देखकर एक ठंडी साँस खींच ली।

मेरा माथा अपने आपही झुक गया। मैंने उसे पकड़कर उठा लिया।

× × ×

जब मैं उर्मिला को लेकर घर पहुंचा तो चाची तैयारी कर रही थीं। मैंने पूछा—यह क्या है?

चाची—मेरी यात्रा का उपयुक्त समय आ गया है। अब शायद तुम भी साथ चलने का हठ न कर सकोगे।

मैंने कहा—पर चाची, इतनी जल्दी नहीं।

उर्मिला ने भी कहा—चाची, इतनी जल्दी नहीं।

चाची ने उर्मिला की ओर देखकर कहा—इतनी जल्दी नाता नहीं बदल सकता—मैं तेरी तो बुआ ही हूँ।

उर्मिला लजाकर चुप हो रही।